

चक्रकांत

[प्रतीकोपन्यास]

गोविन्दवल्लभ पंत



ग्रंथ-संख्या—१४९

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती-भण्डार

लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रथम संस्करण

मूल्य ३)

सं० २००८ वि०

मुद्रक

महादेव एन० जोशी

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

दो शब्द

‘चक्रकान्त’ भारती-भण्डार से प्रकाशित होने वाला पंतजी का दूसरा उपन्यास है। पंतजी के उपन्यास हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनका ‘मुक्ति का बन्धन’ जो भारती-भण्डार से अभी कुछ मास पूर्व प्रकाशित हुआ है, स्वतः उनकी कला में एक नवीन दिशा का संकेत करता है। ‘मुक्ति का बन्धन’ साहित्य के पारखियों द्वारा समादृत हुआ है। ‘चक्रकान्त’ भी लेखक के गौरव की वृद्धि करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

—प्रकाशक

चक्रकांत

एक

संक्रान्ति में पड़ गया वज्रांक देश ! कुछ लोग कहते हैं, संक्रान्ति का जनक नेता होता है। वह एक विशेष प्रकार से जीवन के प्रश्नों पर विचार करता है, उसके वे निरन्तर विचार एक धारा का रूप रख लेते हैं। सारी प्रजा उसमें परिप्लावित हो उठती है और वह विचार-धारा भौतिकता में बदल जाती है।

कुछ लोग कहते हैं, संक्रान्ति एक प्राकृतिक धारा है, वह अज्ञेय महाकाल का प्रवाह है। कैसे उपजती है, कोई नहीं कह सकता। वह सूर्य-जनित संक्रान्ति है। सूर्य की गति पृथ्वीमाता की चाल का भ्रम हो सकता है, तो धरतीमाता कैसे आवर्तित है? चलनेवाला कोई भी हो, चक्र तो स्पष्ट है ही। वे कहते हैं संक्रान्तिकाल नेता को उपजाता है।

रात्रि का दिन में बदल जाना एक संक्रान्ति है, हेमन्त की वसन्त परिवृत्ति वह भी, और द्वापर के पश्चात् कलियुग का प्रवेश वह भी वही है। रात दिन में बदल जाय और फिर दिन ही रहे, यह संक्रान्ति की चिरजीविनी कामना, एक असम्भवता नहीं है क्या? क्रान्ति सीधी रेखा में नहीं है, वह तो चक्कर में है। उसे अनादि और अनन्त होने के लिए कहीं पर मिल जाना आवश्यक है। इसलिए क्रान्ति के सिंह के गले में शृङ्खला डालकर हम उसे अपने पिंजर में बन्दी नहीं बना सकते।

ज्ञान की संक्रान्ति से ही युग की भी संक्रान्ति है। प्रत्येक ज्ञान अपने पिछले ज्ञान से भूत की, और अगले ज्ञान से भविष्य की संक्रान्ति में सम्बद्ध है। इसलिए संक्रान्ति सनातनता है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्या?

सनातनता क्या है? सनातनता प्राचीनता नहीं है, वह है चक्र की मान्यता। उस चक्र का प्रवर्तक विष्णु हो या बुद्ध, यह भगड़ा बुद्ध के विष्णु के अवतारों में समावेशित हो जाने से चुक गया। हमारा अर्थ चक्र से है। वह स्वयं चलता हो, या उसे कोई चलाता हो। यह दुविधा भी छोड़ दी जा सकती है। चक्र चल अवश्य रहा है। उस चक्र को महाकाल का चक्र कहो, चाहे धर्मराज का, एक ही बात है।

चक्रकांत

चक्र सतत प्रवर्तनशील है। दोपहर या आधी रात की संक्रांति भले ही हमारी आँखों से ओझल हो जाती हो, संध्या और पभात के समय वह छिप नहीं सकती। यह दिन-रात का संघर्ष है, यह प्रकाश और अन्धकार का युद्ध है—कदाचित् देवासुर-संग्राम !

उपन्यास इतिहास का आयोजन नहीं है; इसलिए अक्षांश-देशांतर या काल के अंक दकर हम वज्रांक की स्पष्टता प्रकट न करें, तो भी काम चल जायगा।

वज्रांक देश के अधिपति प्राचीन भारतीय आदर्शों पर प्रजा का संतानवत् पालन करते थे। प्रजा भी भगवान् के पश्चात् उन्हीं को अपना सहारा और सहायक जानती-महसूस करती थी।

प्रजा आपस में शुद्ध भाव समन्वित थी, इसी से महाराज पर भी उनका सद्भाव ही था। प्रत्येक मनुष्य जाति के लक्ष्य पर ही अपने जीवन की सार्थकता समझता था। भावात्मकता—शुद्ध भावात्मकता ही राष्ट्र की चैतन्यता है। सारे संसार के लिए कल्याण-कामना ही उसकी अमर ज्योति है।

निर्लोभ से वज्रांक देश का सुख सम्बन्धित हुआ था और संतोष ने उनके समस्त अभाव दूर कर दिये थे। किसी भी प्रतिवासी जाति के लिए उनके मन में कोई हिंसा-भाव नहीं था, इसी से उनका अभय बड़ा हुआ था।

वज्रांक देशवासी भाग्यवादी थे, परंतु यह उनकी जड़ता नहीं थी; क्योंकि वे भाग्य को कर्म का ही संग्रह मानते थे। वह मूर्तिवादी थे सही, यह भी उनकी जड़ता नहीं थी। भाव की निराकारता में उनकी मूर्ति अवसित थी। भाव के प्रबोध के लिए ही उन्होंने मूर्ति की सहायता ली थी।

वे पौराणिक थे, अतिभौतिकता के विश्वासी थे। इतिहास का मूल सदा और सर्वत्र ही पौराणिकता में समाया हुआ है। कुछ तत्त्वान्वेषी कहते हैं, वज्रांकवासी आरम्भ में मांसाहारी थे। जब उन्होंने वहाँ प्रवेश किया, तब धरतीमाता की उर्वराशक्ति पर उनका ध्यान आकर्षित हो गया और उनमें से बहुतों ने मांसाहार छोड़ दिया।

मांसाहार के त्याग से ही उनके बीच में बग-भेद उत्पन्न हो गया।

आमिषभोजी और निरामिषभोजी इन दो भागों में वे बँट गये। निरामिषभोजी फिर दो भागों में विभाजित हो गये—एक ने कृषि द्वारा अन्न उपजाया और कर्म को चेतना दी, दूसरे ने जंगलों के फल-फूलों पर अपनी जीविका का आधार रख दिया और भाव की ही लगन जगायी। एक ने विभक्त होकर ग्रामों को उत्सृष्ट किया, दूसरे ने अरण्य को।

तीसरा आमिषभोजी वर्ग, वह भी टूट चला। उसका वह भाग निरामिष की ओर खिंच गया। परन्तु वह खेत में उपजाने का श्रम करना नहीं चाहता था और न उसकी प्रवृत्ति अरण्य की ओर ही थी। भाव और कर्म के बीच में उसने अंक नाम का एक साधन उपजाया और उस अंक की सहायता से उसने कला को जन्म दिया। उसने लकड़ी, पत्थर, धातु, रूई-ऊन में शिल्प प्रकट किया और उससे अन्न उपजानेवाले को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह शिल्प के बदले में अन्न का अधिकारी हो गया। उसने नगर बसाये।

इस प्रकार चार विभाग हो गये। पहले ने अन्न की सहायता से अपनी साधना का नाम धर्म रक्खा, दूसरे ने श्रमजीवी होकर अन्न उपजाया, तीसरा अंक के सहारे व्यवसायी हो गया और चौथा भी विचारने लगा—“यदि मैं अपने भोजन के एक अंश में अन्न का भी समावेश कर लूँ, तो क्या हानि है ?”

आखेट-रत होने के कारण उसकी शारीरिक शक्ति बढ़ी-बढ़ी थी, अस्त्र-शस्त्र का संग्रह था, उसका अपना दल भी था। उसने अपनी शक्ति को पहचाना। अरण्यवासी से उसे कुछ मतलब न था। उसका ध्यान छोड़ दिया उसने।

वह ग्राम में कृपक के पास गया। उसका राजस जाग उठा। उसने कहा—“मैं अपने धनुष-बाण की सहायता से तुम्हारी और तुम्हारी कृषि की जंगली पशुओं से रक्षा करूँगा।”

कृपक हँसकर कहने लगा—“अपनी जीविका के लिए तुम्हें उनका मारना आवश्यक ही तो है ?”

“नहीं, मैं अन्न भी खाना चाहता हूँ।”

“अन्न भी खाओ, मुझे क्या आपत्ति है। खेतों में परिश्रम करो, उत्पादन करो। इतनी धरती पड़ी हुई है।”

चक्रकांत

“नहीं चाहता मैं खेतों में परिश्रम करना। यह सारी धरती मेरी है। मैंने अपने आखेट के मार्गों से सबसे पहले इसपर अपने पदांक छापे हैं।”

“मैंने इसे उर्वरा बनाया है।”

“उर्वरा बनाने से क्या होता है ? वह स्वयं उर्वरा है, भूमि-पति मैं हूँ, तुम्हें मेरे तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र और उनके प्रयोग के कौशल पर भयभीत होना चाहिए। मैं तुम्हारी रक्षा का भार ग्रहण करता हूँ, क्या वह उत्तरदायित्व मुझे तुम्हारे अन्न का भागी बनाने को उपयुक्त नहीं है ?”

कृषक ने डरकर उस धनुर्धर की ओर देखा !

“केवल जिह्वा का स्वाद बदलने के लिए ही तो। प्रत्येक उपज पर कुछ अन्न मेरे यहाँ भेजने के बदले तुम्हें मेरी मित्रता स्वीकार होनी ही चाहिए।”

और कृषक को मित्रता स्वीकार करने के लिए बाध्य होना ही पड़ा।

धनुर्धर ने शिल्पी के पास जाकर उसपर भी अपनी प्रभुता का आतंक जमा दिया और उसके शिल्प में भी अपना भाग देने के लिए उसे सम्मत बना लिया।

धीरे-धीरे धनुर्धर ने अपनी राजसिक्ता बढ़ा ली। उसने शस्त्र और सुरक्षा के बल से समस्त भूमि पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। ग्राम और नगरों से दूर उसने अपनी बस्ती का नाम राजधानी रक्खा। उसे बसाने में कृषक और शिल्पी दोनों ने अपना-अपना सहयोग दिया।

अरण्यवासी को भी लपेट लेना चाहा धनुर्धर ने। एक दिन आखेट करते हुए वह उसके आश्रम में जा पहुँचा और बोला—“यह वन-भूमि भी मेरी ही है।”

“होगी, मैं कब इसे अपनी कहता हूँ !”

“तुम इसका उपयोग तो करते हो। उसके बदले कुछ देना चाहिए तुम्हें मुझे।”

“कुश और क'डल के अतिरिक्त देने को मेरे पास और कौन-सी पार्थिवता है ?”

“भावात्मकता तो है। तुम्हें प्रत्येक पर्व पर राजधानी में आकर मेरी अभ्यर्थना करनी उचित है।”

“मैं अपनी भावात्मकता के लिए कोई बीज नहीं बोता, धरती के मालिक तुम हो, तो मैं तुम्हारी सत्ता से स्वतंत्र हूँ। भगवान् के अतिरिक्त कोई भी बंदनीय नहीं है मेरे लिए, वही मेरा मालिक है।”

“मैं इतना स्पष्ट हूँ तुम्हारे सामने, फिर मेरी सत्ता क्यों अस्वीकृत है तुम्हें ? क्या तुम मेरी और मेरी प्रजा की कल्याण-कामना भी नहीं कर सकते वहाँ आकर ?”

“हाँ, यह कर सकता हूँ।” अरण्यवासी को भी संबद्ध कर लिया धनुर्धर ने राजधानी से।

अतीत के धुंधले इतिहास में इस प्रकार वज्रांक देश चार भागों में बँट गया। वे थे—अरण्य, राजभवन, नगर और ग्राम।

अरण्य में गुरुता का विकास हो चला, उसने धर्म की ज्योति जलाकर शेष तीन भागों के लिए उजाला किया। राजा ने गुरु के शब्द और व्यवसायी के अंक लेकर विधान की कल्पना की और स्वर्ण-रजत की मुद्रा ढाली। उनकी सहायता से उसने नगर और ग्राम दोनों को अपने प्रतिबंधों में रख लिया। नगर का शिल्पी अपने व्यवसाय द्वारा राजभवन और ग्राम की शृंखला बना। ग्राम के कृषक का अन्न सबका आधार बना।

धर्म, विधान, कला और कृषि—कभी इनके बीच में स्पर्धा नहीं हुई। सदैव ही ये संतुलित रहे। एक शताब्दी पर दूसरी शताब्दी बीतती गयी। वज्रांक देश धन-जन की संख्या में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

गुरु ने अरण्य में शब्द उपजाया, राजा ने उसे अपने विधान में मिलाकर दण्ड के सहारे कृषक के पास तक चला दिया, साथ-ही-साथ चली उसकी मुद्रा भी। उधर शिल्पी ने अपनी तुला की सहायता से कृषक के अन्न को पहुँचा दिया गुरु के आश्रम तक।

गुरु ने शिष्यों की परंपरा बाँधी, राजा ने वेतन देकर सेना की संख्या बढ़ायी। शिल्पी ने लक्ष्मी की उपासना उन्नत की और कृषक ने सबकी जीविका उपजायी। एक ने सबके लिए जीवित रहना अपना लक्ष्य बनाया।

चक्रकांत

गुरु ने अपने आशीर्वाद में सबकी मंगल-कामना उपजायी। राजा ने सबकी सुरक्षा अपना कर्तव्य समझा। व्यवसायी ने जन-संख्या की एक कल्पित आवश्यकता बढ़ायी और उसे सबके लिए सुलभ किया और कृषक ने सारी प्रजा की सेवा के श्रम में अपने को गौरवान्वित ही समझा और जब तक कृषक अपनी सेवा में ही परम अर्थ ढूँढ़ता रहा, तभी तक कलाकार के मन में भी लालच का समावेश नहीं उत्पन्न हुआ। वह विशुद्ध स्रष्टा बना रहा। जब उसने व्यवसायी को पदवी धारण की, फिर वह केवल प्रतिलिपिकार ही होकर रह गया। और तभी तक राजा भी रक्तक होकर रहा, फिर वह अपने को रक्षित समझने लगा और उस बनवासी को भी अरण्य में भय उत्पन्न हो गया—उसके पैर नगर की चहल-पहल पर बढ़ने लगे। वज्रांक सक्रांति के फेर में पड़ गया।

संक्रांति, मूलाधार कृषक की चपलता से उत्सृष्ट हुई या शीर्ष पर के गुरुदेव की अस्थिरता से। कोई-कोई कहते हैं यह उस दिन से आरंभ हुई जिस दिन राजधानी में एक सुवर्ण की खान निकल आयी और महाराज ने उसमें अपनी प्रतिमा ढालकर उसपर मूल्य के अंक गढ़ दिये। मुद्रा प्रचलित हुई।

वह मुद्रा चार नामों में प्रसिद्ध हुई। राजा ने उसे 'कर' की संज्ञा दी। कलाकार ने उसे 'मूल्य' नाम दिया। कृषक ने उसी को 'मजदूरी' कहा और गुरुदेव ने उसे 'दक्षिणा' के नाम से पुकारा।

जब तक पदार्थ का लक्ष्य भावात्मकता रही, ठीक ही रहा। मुद्रा ने समस्त प्रजा का भाव अपनी ओर खींच लिया। संक्रांति में वेग भर गया।

कुछ लोग भाव की इस अधोगति का कारक मानते हैं चक्रकांत को। चक्रकांत अपनी स्त्री को लेकर कुछ वर्ष हुए वज्रांक देश में चला आया था, संभवतः वह चीन देश का निवासी था। कुछ ही वर्ष में वह वज्रांक देश के रहन-सहन में बिलकुल घुल-मिल गया।

वह केवल एक पहिया लेकर वहाँ आया था। और धीरे-धीरे वज्रांक के सबसे संपन्न और प्रतिष्ठित पुरुषों में गिना जाने लगा।

“मेखले! बड़ा सुंदर प्रदेश है न यह! तुम्हें अपनी जन्मभूमि के

त्याग का परिताप न होगा कुछ भी और जब हम यहाँ अपना कार्य बढ़ा लेंगे, तब फिर बिलकुल ही भूल जाओगी तुम उसे ।”

—चक्रकांत ने कहा । मेखला उसकी पत्नी का नाम था ।

पयटक के रूप में वे दोनों वज्रांक की परिक्रमा कर रहे थे । अभी कोई उनके मन के इस रहस्य को नहीं जान सका था कि वे वज्रांक देश के हांकर ही रह जायँगे । यह विचार आरंभ से ही उनके मन में था या नहीं, इसमें भी संदेह है अवश्य । वह वज्रांक की प्राकृतिक श्री ही थी जिसपर वे मुग्ध हो गये और जन्मभूमि के विरह की कोई स्मृति जागी न रह सकी उनके मन में ।

वज्रांक के अरण्य-भाग से ही उनका उस देश में प्रवेश हुआ । सबसे पहले गुरुदेव के ही संपर्क में आये ।

चक्रकांत का प्रतिभा-संबंध उसकी वर्णगौरता, स्वास्थ्य और शरीर-रचना का सुन्दर-सम अनुपात उसके दर्शनमात्र में ही मिल जाता था । यदि किसी पर कृपा कर उसने अपनी वाणी खोल दी, तो उसके कंठ का माधुर्य, शब्द-विन्यास और भाव-गति का संधान उसे क्षणों में ही विमुग्ध कर लेते थे । मेखला पति के अनुरूप ही पत्नी थी । दोनों के रहन-सहन की स्वच्छता उनके मस्तिष्क की उज्ज्वलता के सर्वथा प्रमाण थे ।

सबसे पहले गुरुदेव के शिष्यों ने उस अतिथि-दंपति को घेर लिया । उन्हें अर्घ्य और आसन दिये, जल-पान कराया और गुरुदेव की सहिता के बड़े-बड़े मंत्र सुनाये ।

चक्रकांत ने कहा—“हमें दर्शन क्यों नहीं कराते आप तब गुरुदेव के । वह कहाँ गये हैं ?”

एक शिष्य ने उत्तर दिया —“कहीं नहीं गये हैं, यहीं हैं ।”

मेखला को अधिक कौतूहल था । बोली—“तब क्या फिर परदे में रहते हैं ?”

शिष्य ने कहा—“नहीं, परदे में नहीं रहते । उपासना कर रहे हैं ।”

“कहाँ ?”—चक्रकांत ने पूछा ।

“मठ के उस शोभन मंदिर में ।”

“हमें जाने की आज्ञा नहीं है ?”

“किसी को भी नहीं। द्वार बंद हैं भीतर से।”

विचारपूर्वक चक्रकांत ने कहा —“उपासना के लिए इतनी सुंदर प्रकृति है। दिन में सूर्य और रात में तारिकाएँ ! फिर वह रुद्धद्वार के अंधकार में कैसी उपासना करते हैं ?”

शिष्य ने विनीत भाव से उत्तर दिया—“अखंड दीपक जलता तो है भीतर। पहले मुक्त प्रकृति के ही उपासक थे वे; परंतु जब से वज्रांक की कला-चेतना जागी है, जब से कलाकार ने उन्हें प्रतिमा गढ़कर दी है और चारों ओर से प्राचीर उठाकर आकाश विच्छिन्न कर दिया, वे मंदिर के भीतर ही उपासना करने लगे हैं।”

“बाहर नहीं निकलते कभी ?”

“दिन भर बाहर ही तो रहते हैं, शिष्यों की शिक्षा, उपदेश और प्रबंध में। केवल कुछ घड़ियाँ प्रभात की और कुछ संध्या की नियमित रूप से निश्चित हैं गुरुदेव की उपासना के लिए। उनके बाहर निकलने का समय हो रहा है, अभी ज्ञात हो जायगा।”

“कृषि के कोई चिह्न नहीं मिल रहे हैं आश्रम के आस-पास, फिर भोजन का क्या प्रबंध है यहाँ ?”

“गुरुदेव के लिए भोजन राजभवन से आता है और शिष्य-मंडली को प्रजा से बिना माँगे ही भिक्षा मिल जाती है।”

“खेती क्यों नहीं करते ?”—मेखला ने पूछा।

शिष्य, जो सब से मोटा था, बोला—“यह मन खेत नहीं है क्या ? हम उसमें मंत्र का बीज बोते हैं और ज्ञान की खेती करवाते हैं।”

चक्रकांत और मेखला ने एक दूसरे की ओर देखा मूक-विस्मित भावुकता से।

“उद्यम नहीं करते आप कुछ ?” चक्रकांत ने पूछा—“फिर क्या देते हैं आप किसान को उसके अन्न के बदले में ? यदि कुछ नहीं देते, तो उसे यह भार कष्टकर होगा।”

“एक ही किसान पर नहीं है यह बोझ। बारियाँ लगी हुई हैं। कभी एक ग्राम, कभी अन्य; कभी, एक घर, कभी दूसरा; इसके अतिरिक्त देते कैसे नहीं हैं किसान को। वह हमें शारीरिक भोजन देत हैं, तो क्या हम उसे मानसिक नहीं देते ? हम प्रजा में ज्ञान की

चर्चा से सेवा और त्याग की भावना फैलाते हैं, जिससे प्रजा में सदाचार और शान्ति बढ़ती है, महाराज को राजकाज करने में सरलता प्राप्त होती है।”

एक दूसरा शिष्य भी कहने लगा—“घर-घर धर्म के सूत्र समझाते फिरते हैं। निरक्षरों को साक्षर और साक्षरों को साधु बनाते हैं। जिन्हें भगवान् का भय नहीं है, वही महाराज से भी नहीं डरते। उनमें हम नरक के भय और महाराज के दंड-विधान का आतंक फैलाते हैं।”

इतने ही में मंदिर में घंटा बजने लगा। कुछ शिष्य, जिनकी नियुक्ति थी वहाँ, दौड़े गये उधर और मंदिर की बाहरी परिक्रमा पर लटके हुए घंटा बजाने लगे। सारा आश्रम भाँति-भाँति के घंटों की ध्वनि से निनादित हो गया। शेष शिष्य हाथों में पुष्प लेकर मंदिर-पथ के दोनों ओर पंक्ति बाँध खड़े हो गये।

दो शिष्य चक्रकांत और मेखला के पास ही रह गये अतिथि-सम्मान के विचार से।

एक ने कहा—“आरती करने लगे गुरुदेव। पूजा समाप्त हो गयी। अब कुछ ही देर में द्वार मुक्त हो जायगा और गुरुदेव बाहर आ जायँगे। बड़े सज्जन हैं, महात्मा हैं। मानवता को किसी अन्तर की वस्तु नहीं समझते। छोटे-बड़े सबके साथ बैठकर बातें करते हैं। महाराज तो अहंकारी हैं, राजस के लिए आवश्यक है भी उन्हें। बिना मंत्रियों से भेंट किये कोई दर्शन भी नहीं पा सकता उनके, बात कर लेना तो बड़े ही सौभाग्य की बात है। परन्तु गुरुदेव से उपासना के समय के अतिरिक्त चाहे जो उनको अपना दुख-सुख सुना सकता है। वह सुनते ही नहीं, यथाशक्ति दूसरे का काम भी कर देते हैं। परापकार उनके जीवन का व्रत, लोकसेवा-मर्म है।”

चक्रकांत और मेखला ने नीरव अनुमोदन किया शिष्य के कथन का। घण्टे और घड़ियाल बज रहे थे समवेत स्वर से। अद्भुत एकस्वरता गूँज रही थी आश्रम में।

“कब तक बजते रहेंगे यह ?”—मेखला ने पूछा।

“आरती के समाप्त होने तक। थोड़ी देर लगेगी ही।”

चक्रकांत

चक्रकांत बोला—“आश्रम के बाहर हम लोग एक पत्थर का पहिया छोड़ आये हैं, कोई ले न जायगा न ?”

मेखला बोली—“ले आवें उसे।”

इतने में मन्दिर के भीतर शंख बजने लगा और घंटे के नादकारियों ने लय द्विगुणित कर दी।

“अभी द्वार खुलेगा अब। गुरुदेव के दर्शन होंगे। हम सबको वहाँ उनके आशीर्वाद लेने जाना पड़ता है। आप भी चलिए।”

दोनों शिष्य मन्दिर की ओर चलने लगे। चक्रकांत और मेखला भी पथ में सब के अन्त में आमने-सामने दोनों ओर खड़े हो गये।

चार चेलों ने मिलकर भड़ाम से मंदिर के दो विशाल द्वार भीतर की ओर खिसकाये। दोनों करों में प्रज्वलित आरती लिये हुए भव्य रूप और वेश में गुरुदेव दिखायी दिये। पैरों तक लटकता हुआ गैरिक काषाय वस्त्र, चौड़ी बाहें, सिर पर उसी रंग की कनटोपी। छाती पर लटकती हुई लंबी श्वेत दाढ़ी और पीठ पीछे लटकती दीर्घ आलुलायित केशगशि ! विशाल वक्षस्थल, तुकीली नाक और तीखी ज्योति-भरी आँखें !

दूर से चक्रकांत और मेखला ने उन्हें देखा और सराहा।

“गुरुदेव की जय !”

गुरुदेव ने मंदिर के बाहर की ओर अपने संतुलित करों में आरती सँभाले धीरे पग बढ़ाये।

सबने तीन बार फिर गुरुदेव की जय पुकारी, उनपर पुष्प-वर्षा की और एक-एक कर सबने उनके चरणों का स्पर्श किया। गुरुदेव शिष्यों के बनाये मार्ग से होकर आगे को बढ़े। शिष्य एक-एक कर दोनों हाथों से आरती की लौ पर हाथ जोड़ अपने मुख का स्पर्श करने लगे।

आरती लिये गुरुदेव पंक्ति के अन्त में पहुँचे। दोनों ओर खड़े हुए दो अपरिचित अतिथियों ने भी उस परंपरा का अनुकरण किया, पर पैर नहीं छूए।

एक शिष्य ने गुरुदेव के हाथों से आरती ले ली। गुरुदेव ने चक्रकांत और मेखला की ओर स्मितानन से बड़ी प्रीति के साथ

निहारा--“अभी आये हो ? अधिक प्रतीक्षा तो नहीं करनी पड़ी ?”

“नहीं, महाराज !”

“साथ में कौन हैं यह ?”

“मेरी पत्नी ।”

“क्या नाम तुम्हारा ?”

“मेरा नाम चक्रकांत है ।”

“किसी अर्थ से है यह नाम ?”

“हाँ महाराज, मेरे पास एक चक्र है । उससे मैंने काल को संक्षिप्त किया है ।”

“अर्थात् ?”

“अर्थात् मैंने वेग प्राप्त किया है ।”

“वेग में क्या विशेषता है ? जन्म और मृत्यु के दो सिरे हैं । उस पथ का चाहे दौड़कर अतिक्रमण कर लो, चाहे धीर गति से ।”

“आप नहीं समझे महाराज !”

शिष्यों ने हँसा किया—“हैं, हैं ! यह क्या कह रहे हो ? गुरुदेव क्या नहीं समझते !”

गुरुदेव ने हँसकर चक्रकांत की पीठ पर हाथ रख दिया—“माया का क्या समझना बत्स ! काल एक विभ्रम है, फिर उसकी बड़ाई-छोटाई में क्या विशेषता है ?”

“ये घण्टे तो बजाते हैं आपके शिष्य । मैं उस चक्र के साथ इन घंटों को इस प्रकार जोड़ सकता हूँ कि एक ही शिष्य के चक्र को घुमाने से ये सब के सब अपने आप बजते रहेंगे ।”

“ये शिष्य निरुद्यम हो जावेंगे ।”

“इस आश्रम के आस-पास की सारी भूमि को मैं उस चक्र से कुछ ही दिनों में खोद ही नहीं सकता, कूपों से अविच्छिन्न जल की धारा भी बहा सकता हूँ खेतों में हरियाली विकसा देने के लिए ।”

“हमें खेती की कोई आवश्यकता नहीं है । भिक्षा में पर्याप्त अन्न मिल जाता है ।”

चक्रकांत

“मैं उस चक्र से चक्की चलाकर अन्न को शीघ्र और महीन पीस सकता हूँ।”

“हम दाँतों से पीस लेते हैं।”

“मैं उस चक्र को चलाकर रुई कात सकता हूँ और आपके लिए कपड़े बुन सकता हूँ।”

“नगरों से हमें वह भी बिना प्रयास मिल जाते हैं।”

“यह पर-निर्भरता आपके समाज के लिए कलंक क्यों नहीं है?”

“हमारी आत्मनिर्भरता रोटी और कपड़े के प्रश्नों पर खड़ी नहीं है। खाते-पहनते अवश्य हैं हम, पर वह सब इस बाहरी आवरण के लिए है। हम धरती की उपज पर नहीं हैं जीवित, हम मन की उपज पर प्राण धारण किये हुए हैं। मन की उपज है भाव। कुछ दिन यहाँ रह जाओ, तो सब समझ में आ जायगा।”

“रहें कैसे फिर?”—चक्रकांत ने पूछा।

“हमारे अतिथि होकर।”

“स्त्रियाँ नहीं रहती यहाँ?”—मेखला ने पूछा।

“अतिथि-रूप से वह भी रहती हैं।”

“नहीं तो?”

“वे राजधानी, नगर और ग्रामों में ही रहती हैं। यहाँ केवल ब्रह्मचारी ही निवास करते हैं।”

“स्त्रियों से ऐसी घृणा क्यों है?”—मेखला बोली।

“घृणा कुछ भी नहीं है। वे यहाँ दशेनार्थ बराबर आती-जाती हैं। मंदिर में पूजा-अर्चना करती हैं, गीत-नृत्य करती हैं, कीर्तन-जागरण करती हैं, कथा-उपदेश सुनती हैं।”

“बस?”—मेखला ने शंका की।

“और क्या?” गुरुदेव ने स्थिरता से उत्तर दिया—“शिक्षा पूर्ण कर जो विद्यार्थी विवाह करना चाहता है, वह यहाँ से विदा ले गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो सकता है।”

“स्त्रियों को क्यों नहीं शिक्षित किया जाता यहाँ?”—मेखला ने जिज्ञासा की।

“उसकी आवश्यकता ही नहीं है। वह गृहस्थाश्रम में अपनी

शिखा स्वयं प्राप्त कर लेती हैं। मुख्यता पुरुष की ही है, पुरुष ही नारी की परिपूर्णता है। उसके शिक्षित हो जाने से नारी के सभी अभाव दूर हो जाते हैं। यदि तुम्हारी रुचि है, तो हम तुम्हारे लिए आश्रम में स्थान बना सकते हैं।”

“यह मनोहर प्रकृति आकृष्ट करती तो है मुझे, पर—” बीच ही में चक्रकांत ने कहा—“महाराज, मैं चक्र और वृषभ की सहायता से एक ऐसा साधन भी प्रस्तुत कर सकता हूँ जिससे आपके शिष्य सहज ही ग्राम और नगरों में पहुँच जायँ और भिक्षा का भार भी बिना उनके वहन किये यहाँ दुल जाय।”

“हम शिष्यों को परिश्रम की घृणा नहीं सिखाते। नगर में व्यवसायी अवश्य तुम्हारे चक्र से लाभ उठा सकता है, परन्तु तुम्हें देखकर, तुम्हारी बुद्धि और प्रतिभा को समझकर हमारी यह इच्छा होती है कि तुम सपत्नीक यहाँ रहो।”

“पर हम तो चक्र के साथ ही यहाँ रहेंगे।”

“चक्र को भी ले आओ। कहाँ रक्खा है वह ? लाकर मंदिर में रख दो, हम अपने देवगणों में सम्मिलित कर लेंगे उसे भी। नित्य उसकी पूजा करते रहेंगे।”—गुरुदेव ने कहा।

“नहीं महाराज, उसके घूमते रहने से ही उसकी संज्ञा की सार्थकता है।”

शिष्य-मण्डली ने अतिथि-दंपति और गुरुदेव को घेर रक्खा था। वे सब उन नवागंतुकों के मोह में पड़कर अपना कर्तव्य-कर्म भूल जाना चाहते थे।

गुरुदेव चैतन्य हुए, बोले—“शिष्यगण, क्या आज का कर्म नहीं सँभालोगे ? इन नवीन मूर्तियों में क्यों विस्मृत हो उठे हो ? जाओ तुम सब, मैं इन्हें अवश्य रोक लूँगा आश्रम में।”

चक्रकांत के मस्तिष्क में दूसरी लहर उठने लगी। शिष्यगण अपने-अपने कामों में बिखर गये। कोई नगर और ग्राम की ओर चले; कोई मन्दिर की साज-सज्जा में लगे; कोई पाकशाला की ओर बढ़े।

“चलो हम उधर यज्ञशाला में बैठेंगे और तुम्हारे जलपान का प्रबन्ध करेंगे।”—गुरुदेव ने कहा।

“जलपान कर चुके हैं हम ।”

“तब विश्राम करोगे । सुंदर एकांत हमारी बातचीत में सहायक होगा ।”—कहकर गुरुदेव उन्हें एक पर्णकुटी में ले गये । उन्हें बैठने को आसन दिये भूमि पर, स्वयं एक ऊँचे मंडप में विराजमान हो गये ।

परंतु उन पति-पत्नी में से कोई भी आसन पर बैठा नहीं, खड़े-ही-खड़े बातें करने लगे ।

“बैठ जाओ ।” गुरुदेव ने कहा—“केवल एक ही बात है । तुम्हें आश्रम में रहने के लिए मेरा शिष्यत्व ग्रहण करना होगा । मेरे सब शिष्य तुम्हारे अनुचर रहेंगे, पर तुम्हें मेरी आज्ञाओं का वशवर्ती होना पड़ेगा ।”

मेखला ने पति से चल निकलने का संकेत किया ।

“नहीं महाराज, हमने केवल उचित वाक्य का वशवर्ती होना सीखा है । अनौचित्य पर हम पति-पत्नी के संबंध में भाँ एक दूसरे के वशवर्ती नहीं हैं ।”

“तब तुम्हारे बीच में कलह होगा ।”

“नहीं महाराज ।”

“तब उचित-अनुचित का निर्णय कौन करता है ? अरे उसी के निर्णयकर्ता की तो गुरुदेव की उपाधि है ।”

“निर्णय हम स्वयं कर लेते हैं !”—चक्रकांत बोला ।

“नहीं मान सकता मैं । अहंकार तुम्हारे निर्णय में बाधा नहीं पहुँचाता तो उचित-अनुचित का भेद ही कैसे प्रगट हुआ ?”

मेरे पति ने ठीक ही कहा है । चक्र ही हमारा निर्णय कर देता है ।”—मेखला ने उत्तर दिया ।

“वह बोलता है भी क्या ?”—अविश्वास के साथ गुरुदेव ने पूछा ।

“बोलता नहीं है तो क्या उसकी कोई गति भी नहीं ? उसकी गति में हम संकेत संश्लिष्ट कर देते हैं ।”

“किस प्रकार ? बैठ तो जाओ ।” गुरुदेव ने आग्रह किया ।

चक्रकांत खड़ा ही रहा । वह समझाने लगा—“हम दोनों किसी

समभूमि के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं और बारी-बारी से बीच में चक्र को घूमने के लिए छोड़ देते हैं। चक्र जिसकी ओर भूमि पर गिर जाता है, उसी की बात ठीक समझी जाती है।”

“अद्भुत निर्णय है तुम्हारा। अवसरवादी हो तुम। यह तो निर्णय नहीं, एक तरह की घूतक्रीड़ा हुई।”

“जैसा भी समझें गुरुदेव! जब हम दोनों की उसमें मान्यता है, तब फिर कलह के लिए कोई आधार रह नहीं जाता। गुरुदेव और महाराज यह दोनों ही तो अपनी मान्यता से ही प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।”

गुरुदेव अपने आसन पर कुछ अस्थिर से हुए। फिर स्थैर्य प्राप्त कर बोले—“तुम्हारा काव्य मुझे मोहित करने लगा है। आसन ग्रहण करो। मैं तुम्हारे लिए भोजन मँगवाता हूँ।”

“हमें भिक्षान्न त्याज्य है।”

“राजभवन के सुस्वादु भोजन में से तुम्हें मिलेगा। बैठो तो सही।”

“नहीं गुरुदेव, हमें आपका शिष्यत्व ग्रहण करना स्वीकार नहीं है; अतः हम न बैठेंगे।”—चक्रकांत ने कहा।

गुरुदेव ने मेखला की ओर दृष्टि कर कहा—“क्यों शोभने! तुम इस प्रश्न पर पति से एकमत नहीं हो, तो मैं अपने शिष्यों को भेजकर चक्र को मँगवा लेता हूँ और इस भूमि की समता में उसके निर्णय का निदर्शन देख लूँ मैं भी।”

मेखला अपने पति के साथ धीरे-धीरे कुछ बातें करले लगी। गुरुदेव ने देखा आश्रम की सारी शिष्य-मंडली उन दोनों पर आकृष्ट हो गयी थी। उनका कर्म केवल एक बहाना मात्र हो गया; लक्ष्य दूसरी ही ओर था।

मेखला ने हँसकर कहा—“नहीं महाराज, चक्र आश्रम के बाहर ही रह जायगा। मैं इस प्रश्न पर अपने पति के साथ सहमत हूँ।”

गुरुदेव घबराये, उन्होंने मन में सोचा—“इस आश्रम के भीतर न आना ही अच्छा है उस चक्र का। यदि कहीं वह यहाँ आकर निर्णायक के स्थान पर बैठ गया, तो फिर मेरा आसन डुँवाँडोल हो जायगा।” वह बोले—“दो-चार दिन तो रहो।”

“फिर कभी आवेंगे महाराज।” दोनों जाने लगे।

चक्रकांत

गुरुदेव मंडप से उतर आये। उन्हें विदा करते हुए बोले—“मेरी समझ में नगर में तुम्हारे लिए बहुत उपयुक्त स्थान है। व्यवसायी तुम्हारी प्रतिभा का पूरा उपयोग करेगा। तुम्हारा बदला चुकाने को उसके पास मुद्राएँ भी हैं सुवर्ण की।”

दोनों विदा हो गये। शिष्यों की लालच-भरी दृष्टि का गुरुदेव ने इस प्रकार निराकरण किया—“कुछ दिन पश्चात् यहाँ आन को कह गये हैं।”

दो

“**शुद्ध** यदि इसी आश्रम में हम अपना निवास बना लेते, तो क्या था चक्रकांत।” आश्रम को छोड़ते हुए मार्ग में मेखला ने कहा—“चक्र किसी स्थान की विशिष्टता नहीं माँगता। जहाँ पर भी यह चलेगा, शक्ति-संचय स्वयं ही हो जायगा।”

हँसकर चक्रकांत ने मेखला के स्वर्ण-गौर अनावरित कंधे पर अपना हाथ रख दिया—“तुम थक गई हो क्या?”

“नहीं तो।”

“फिर ? केवल वेश और आडंबर के उस गुरुदेव में रक्खा क्या है ? केश बड़ा लेने या रेशम के कपड़े पहन लेने से होता क्या है ? अपने ही भ्रम में खोया हुआ है वह मूर्तिपूजक। तुम्हारे सुंदर मुख पर से उसकी दृष्टि हट ही नहीं सकी। मुझे संबोधित कर भी वह तुम्हीं को ताकता रह गया। विंदु को देखकर ही विसर्ग का भी पता लग गया। उसकी दाशेनिकता अहिफेन का प्रलाप जान पड़ी मुझे।”

“उसके स्वाद को क्या तुम नहीं जानते ?”—मेखला ने सुमधुर कटाक्ष किया।

“परन्तु वह मेरे स्वभाव में घुल नहीं गयी है। इस प्रवास में समाप्त हो जाने पर कहाँ मिली वह ? हम प्रकरण से हट गये।

सुनो, गुरुदेव ने अरण्य की एकता में नगर की राजसिकता मिला दी है। निश्चय ही उसके पूर्वजों का ऐसा उद्देश्य नहीं था। उसने उपासना के नाम पर मंदिर में बन्द हो एक रहस्य उपजाया है। उसने शिष्यों का दल एकत्र कर उनके मुख से अपनी 'जय' आकाश में उड़ायी है। वह हम दोनों को भी शिष्यत्व देकर अपने चरणों में विनीत कर लेना चाहता था। तुम्हें है रुचिकर यह ?"—चक्रकांत ने पूछा।

मेखला सोच-विचार में पड़ गयी।

"सोचती क्या हो ? जाना चाहती हो, तो चली जाओ। आश्रम से दूर नहीं आये अभी हम। स्त्री-शून्य वह स्थान विरस जान पड़ता है मुझे, जैसे नक्षत्रविहीन नीलिमा। अपने पक्ष की रानी-सी चमकोगी वहाँ। जब तक मन लगे रहना।"

मेखला के खाँसो उठी और उसने जमीन पर थूक दिया। फिर वह उच्च स्वर से हँस पड़ी।

"नहीं, परिहास नहीं कर रहा हूँ। कोई दुविधा नहीं है। इस निर्णय के लिए मैं चक्र का उपयोग नहीं करूँगा। एक ही बच गया है यह। इसका जोड़ा उस दिन तुम्हारे दुराग्रह पर खो देना पड़ा हमें, जब हम चक्रांक के मार्ग पर एकमत नहीं हो सके थे।"

"बिगड़ा क्या फिर ? हमें इससे बढ़कर प्रदेश प्राप्त न होता कदापि। मैं तो कहती हूँ, यह दूसरा भी खो जाय तो कौन घाटा हो जायगा हमारा ?"

ताड़ना प्रदर्शित कर चक्रकांत मार्ग पर ठहर गया—"क्यों ?"

"क्योंकि इस चक्र का अस्तित्व बाहर नहीं है। यह तुम्हारे मन की उपज है। फिर इसके भाँति-भाँति के उपयोग की सारी कला तो तुम्हारे मन में ही सुरक्षित है। पहले बाहर नहीं था यह—तुमने बना लिया एक, फिर एक दूसरा भी बन गया। यह अकेला रह गया। यह भी यदि किसी दुस्तर गहराई में खो जाय, तो फिर प्रगट न हो सकेगा क्या ? इसलिए हे चतुर चक्रकांत, क्यों मोह बढ़ाते हो इसका ?"

"दोनों चक्रों को एक कीली से संबद्ध कर यातायात में कितनी सरलता थी। चक्र स्वयं ही नहीं प्रवर्तित थे, वे हमारा भार भी वहन कर रहे थे।"

चक्रकांत

उत्तुंग पर्वत की तलहटी में जब आपको वृषभ खोल देना पड़ा और लकड़ी का पंजर तोड़ देना पड़ा, तब इस चक्र की एकाकिता को भी एक विवशता समझ लो ।”

“शिष्या बनने न जाओगी तुम आश्रम में ?”

“मेखला का विरह सद्य है तुम्हें चक्रकांत ! मेखला ही क्या तुम्हारे और चक्र के बीच का संबध नहीं है ? चक्र चाहे जितने बना सकते हो भिन्न-भिन्न आकार और प्रकार के, पर मेखला जो है केवल वही है । उससे अन्य कहीं कोई नहीं । तुमने एक दिन मुझसे कहा था—मेखले, चापल्य पर जब मैं केंद्रीभूत होकर स्थिर हुआ, तब चक्र उद्भूत हो उठा । क्या यही तुम्हारे चक्र का इतिहास नहीं है ?”

“हाँ यही है ।”

“तो जब तक परिधि केंद्र का साथ नहीं छोड़ सकती, मेखला भी क्षण भर के लिए तुमसे अलग न होगी ।”

चक्रकांत ने प्रसन्न होकर मेखला का हाथ पकड़ लिया । वे दोनों आश्रम की सीमा पर पहुँच गये थे । उन दोनों में से किसी ने भी फिर लौटकर आश्रम की ओर नहीं देखा ।

चकित और स्तंभित होकर चक्रकांत चिखा उठा—“क्या यही वह स्थान नहीं है मेखले ?”

मेखला अटकल लगाने लगी अपने रक्ताभ चिबुक पर एक उँगली गड़ाकर ।

“और यही तो वह औदुंबर का वृक्ष है, इसी के सहारे पर तो....?”

मेखला की स्मृति जाग उठी—“हाँ यही स्थान है ।”

“फिर चक्र कहाँ गया ?”—चक्रकांत ने पूछा ।

“किसी हरिण ने उसपर अपनी गर्दन खुजलाकर उसे स्थान-भ्रष्ट कर दिया और लुढ़कता हुआ चला गया । कहाँ जायगा, ढँढ़ ही लेंगे ।”

दोनों इधर-उधर ढूँढ़ने लगे । नहीं मिला । पथ में कोई अंक भी उसके न मिले ।

“क्या होगा अब ?”—बड़ी निराशा से पति ने कहा ।

“होगा क्या, दूसरा बन जायगा ।”

“हमारे दोनों के मन की एकता के लिए तो उसकी अपेक्षा है न ? इसी के लिए तो वह भारी भार पर्वतों के आरोहण में भी हम अपने कंधों पर चढ़ा लाये हैं ।”

“चक्रकांत ! मैं तुम्हारे विचार के साथ अभिन्न होकर ही रहूँगी तब तक, जब तक तुम दूसरे चक्र का निर्माण न कर लोगे ।”

“तुम्हारी इस उक्ति से उत्साह मिला मुझे । पर अपनी वस्तु के अकारण खो जाने का विषाद क्यों न हो हमें ?”

“कोई उठा ले गया होगा क्रीड़ा की एक वस्तु समझकर । चिंता न करो, उसके उपयोग के सारे रहस्य तुम्हारे ही मस्तिष्क में बन्द हैं ।”

चक्रकांत मार्ग के निकट एक टीले पर बैठ गया । उसका संकेत पाकर मेखला ने भी पति का अनुकरण किया ।

“कौन ले गया होगा ? कुछ देर ठहर जायँ, कदाचित् लौटाकर रख जाय । आश्रम का प्रतिवास बहुत अधिक आस्तेय रखता हागा ।”
—चक्रकांत बोला ।

“चक्र के बदले तुम्हें आगे के मार्ग को सोचना चाहिए ।”

“मार्ग पर बैठे तां हैं हम ; पर जानते नहीं हैं, यह ले कहाँ जायगा ।”

“पथ पूछने से पहले विचार कर निश्चित कर लो तुम्हें जाना किधर है ।”

“कहाँ चलोगी ?”

“राजधानी निकट है, तो वहीं क्यों न चले । तुम्हारी प्रतिभा का पूरा-पूरा मूल्य राजा ही दे सकता है ।”

“मैं यहाँ पर तुमसे भिन्न मत रखता हूँ । यदि राजा संयतमति न हुआ, तो वह मेरे समस्त आविष्कारों का अपहरण कर लेगा । मेरे सारे विचारों की चाभी खुलवाकर सब कुछ जान लेगा और बन्द कर देगा मुझे कारागार में ।”

तुरंत ही मेखला ने प्रत्युत्तर दिया—“मैं कोई विचारभिन्नता नहीं रखती हूँ । मेरी इच्छा आपकी ही उत्कंठा में लथ हो जाय । कौन स्थान सोचा है आपने ?”

“चार विभागों में बँटा है यह देश । राजधानी को विचार लिया

चक्रकांत

और अरण्य को भुगत लिया, रह गये शेष दो ग्राम और नगर। इन दोनों में जहाँ भी कहो तुम।”

“नहीं, इस बार मैं कदापि पड़ले मुख न खोलूँगी।”—अधरों पर हाथ रखकर मेखला चुप रह गयी।

चक्रकांत ने कुछ सोचकर कहा—“ग्राम का कषक सर्वत्र ही सरल है, यहाँ भी उसकी प्रकृति में कोई अंतर न होगा। वह श्रमजीवी है। उसको बुद्धि के विकास का अवसर ही प्राप्त नहीं। मेरी कल्पना न समझ सकेगा वह।”

“तब फिर नगर ही रह गया शेष। परन्तु वहाँ व्यवसायी रहता है।”—कुछ आशंका के स्वर में मेखला ने कहा।

“चक्रकांत को क्या तुमने अंकों का दुर्बल समझ रक्खा है? यह चक्र क्या गणितसंभूत नहीं है?”

कुछ बालकों का कोलाहल सुनाई दिया निकट ही। कान खोलकर खड़े हो गये मेखला और चक्रकांत दोनों।

“कौन हैं?”

“इधर ही तो आ रहे हैं।”

उधर ही आ पहुँचे वे। सात-आठ कृषक-बालक भूमि पर चक्र को घुमाते हुए आ पहुँचे वहाँ। चक्रकांत प्रसन्नता से खिल उठा। उन दोनों का देखकर बालक रुक गये।

“यह चक्र मेरा है।”—चक्रकांत ने कहा।

“होगा। हम इसे जहाँ से ले गये थे, वहीं रखने जा रहे हैं।”

“मैं यहाँ आ गया हूँ, तो मुझे यहीं दे देना चाहिये न?”

“नहीं, हम तो जहाँ से ले गये हैं, वहीं रखेंगे।” एक दूसरे बालक ने कहा।

तीसरा बोला—“यह तुम्हारा है, इसकी साक्षी?”

चक्रकांत ने मेखला की ओर संकेत किया।

मेखला बोली—“इसको घुमाते-घुमाते मेरे कोमल हाथों में छाले पड़े हैं, देख लो।”

कृषक-बालकों ने चक्र छोड़ दिया मार्ग पर।

“कौन हो तुम?”

“हम कृषक-बालक हैं, चरवाहे हैं। कौतूहलवश इस चक्र को उठा ले गये थे। यह हमारे किसी उपयोग का नहीं है। ग्राम के बड़े-बूढ़ों ने इसे जहाँ-का-तहाँ रख आने का आग्रह किया है।”—एक बालक ने कहा।

दूसरा बोला—“तुम क्या करते हो इससे ?”

“क्रीड़ा करते हैं।”

“बड़े हो गये, अभी तक बालकपन नहीं गया तुम्हारा ?”—एक चरवाहे ने व्यंग किया।

चक्रकांत ने हंसी में उड़ाकर कहा—“एक बात तो बताओ। नगर को कौन-सा पथ गया है ?”

“किस नगर को ? राजधानी केवल एक है, नगर तो कई हैं यहाँ।”

“कोई भी नगर हो। हम अभी प्रवास में हैं। सभी नगर हमारे लिए समान हैं।”

“कुछ दूर आगे चलकर एक और मार्ग मिलेगा। इसे छोड़कर उसे ग्रहण कर लेना भीतर की ओर, नगरों के भाग में पहुँच जाओगे।”

“और राजधानी का मार्ग ?”—फिर पूछा चक्रकांत ने।

“राजधानी को भी यही मार्ग है। नगर का भाग छोड़कर सीधे चले जाना। बीच में राजधानी ही है।”

“राजधानी बीच में है ?”—चक्रकांत ने जिज्ञासा की।

“हाँ, तुम नहीं जानते ? बीचो-बीच राजधानी है, उसके बाहर गोलाकार ठीक तुम्हारे इस चक्र की भाँति नगर बसे हुए हैं।”

चक्रकांत के मुख पर आश्चर्य चमक उठा।

कृषक-बालक कहता जा रहा था—“नगरों के बाहर भूमि की कई योजना चौड़ी पट्टी नगरों को घेरते हुए ग्रामों की बसी हुई है। इस समय तुम उसी भाग पर हो। ग्रामों के चारों ओर मंडलाकार अरण्य बसा हुआ है। समझे ?”

चक्रकांत बोला—“हाँ, समझ गया। केंद्र में राजा है सबसे सुरक्षित और परिधि पर है लँगोटीधारी शिष्यों की मंडली ताकि किसी

चक्रकांत

की लालचभरी आँखें न पड़ें इस राज्य पर। गुरुदेव कितने हैं अरण्य में ?”

“कितने होते हैं गुरुदेव ? केवल एक ! नगर अनेक हैं, नगरों में श्रेष्ठी अनेक, ग्राम और भी बहुसंख्यक हैं, ग्रामों में प्रधान भी बहुसंख्यक ; पर भीतर राजा एक और बाहर गुरुदेव एक।”—चरवाहा बोला।

“गुरुदेव ? वही नाभि तक दाढ़ी लटकाये ?”—चक्रकांत ने पूछा।

“हाँ।”

“उन्हें देखने का सौभाग्य तो पाया है। उन्हें देखकर राजा का भी अनुमान कर लिया।”—हँसकर चक्रकांत ने कहा।

“कहाँ लँगोटीधारी त्यागी गुरुदेव, कहाँ सकल ऐश्वर्य-सम्पन्न महाराज !”

चक्रकांत ने मेखला की ओर दृष्टि कर पूछा—“लँगोटी कहाँ पहन रखी थी गुरुदेव ने ?”

“नख-शिख रेशम में ढँके थे।”—मेखला ने कहा।

चरवाहा हँसा—“पूजा के समय पहन लिया होगा। शेष समय में जाड़ा हो या गरमी, “वह लँगोटी ही पहनते हैं। तिब्बत के महागज की भेजी हुई भेंट है, उपहारदाता के प्रति सम्मान दिखाने के लिए पहन ली होगी।”

“कुछ भी हो। परिधि को देखकर केंद्र का पता सहज ही चल जाता है। गुरुदेव के दर्शन से महाराज छिपे न रह सके। ये दोनों हमें तो बड़े चतुर जान पड़ते हैं।”—चक्रकांत ने कहा।

राजनीति “चतुराई माँगती ही है। परन्तु यह जो तुम गुरुदेव के विरुद्ध हो उठे हो, यह तुम्हारी भूल है। अपना सुख इष्ट नहीं है उन्हें। सारे जगत की कल्याण-कामना, प्रत्येक मनुष्य का उदय और प्राणी के साथ प्राणी की मैत्री उनके जीवन का मंत्र है।”—एक दूसरा चरवाहा बोला।

मेखला बोली—“अरण्य में सिंह नहीं हैं क्या ?”

चरवाहा—“सिंह हैं तो क्या हुआ ? वज्रांक महागज क्या बज्रवाहु नहीं हैं ? उनके शस्त्र और सेना भी है, वह आखेटप्रिय भी हैं।

महाराज की अभक्ति पर थोड़े रह सकोगे तुम इस प्रदेश में, गुरुदेव की अभक्ति पर चाहे रह भी जाओ ।”

चक्रकांत बोला—“हम राजभक्त होकर ही रहेंगे यहाँ कृष्णपुत्र ! प्राणी के साथ प्राणी की मैत्री कहा तुमने, इसी से हमने पूछा कि ‘यहाँ के भिन्न परिवर्तित प्रकृति के तो नहीं हैं। यह कौरी जल्पना छोड़ देंगे हम और अपनी यात्रा की कल्पना पर आ जायँगे। उठो मेखले ।”

दोनों उठ खड़े हुए। चक्रकांत ने पूछा—“संध्या समय तक पहुँच जायँगे हम नगर में ?”

ग्रीष्म के इस दीर्घ दिनमान में तुम राजधानी तक भी पहुँच जाओगे सूर्य-प्रकाश के भीतर ही ।”—उत्तर मिला ।

दोनों चक्र की ओर चले गए। चक्रकांत ने चक्र को भूमि पर से उठा लिया और उसे मार्ग में बढ़ाने लगा ।

कुछ अट्टमक्रीड़ बालकों ने भी चक्र पर हाथ लगा दिये—“चलो, चतुष्पथ तक हम पहुँचा देंगे तुम्हें। हमें उधर ही लौट जाना है। तुम छोड़ दो अपने हाथ ।”

बालक दौड़ा ले चले चक्र को। मेखला के साथ बातें करते हुए चक्रकांत पीछे-पीछे चलने लगा ।

“इस प्रदेश के उन्नायकों के पास चक्र की कल्पना तो है। राज्य के विभाग इसका साक्षात् हैं; पर चक्रहीन है ये, शक्ति का रहस्य ज्ञात नहीं है इन्हें ।”—चक्रकांत ने कहा ।

मेखला बाली—“केवल अरण्य का बाहरी भाग देख लेने से ही नहीं कहा जा सकता ।”

‘बाहर भीतर ही से तो जुड़ा है। मार्गों ने सब विभागों को संबद्ध कर रक्खा है और शिष्यों ने समस्त भिन्नताओं का भिन्ना-द्वारा जोड़ लगा रक्खा है। आश्रम का कोई उपकरण चक्र की उपलब्धि का कोई संधान नहीं देता। इन कृष्ण-बालकों में भी चक्र के प्रति जो कौतूहल उत्पन्न हुआ, उससे भी स्पष्ट प्रकट है कि इन्होंने कहा चक्र के दर्शन नहीं किया है ।”—चक्रकांत बाला ।

मेखला ने उत्तर दिया—“कहा जा सकता है ।”

चक्रकांत

बालक दृष्टि की ओट में हो गये थे। दम्पति ने भी अपनी चाल बढ़ा दी। चतुष्पथ पर वे बालक ठहर गये।

चक्र हस्तांतरित कर चक्रकांत चलने लगा और उसने आभार के साथ उन चरवाहों पर विदा की दृष्टि की।

हाथ उठाकर वे सब-के-सब चिल्लाये—“गुरुदेव की जय।”

हँसते हुए चक्रकांत आगे-आगे चक्र और पीछे-पीछे मेखला के साथ अपने मार्ग में अग्रसर हो चला—“प्रतिवासियों को भी रटा दी है गुरुदेव ने अपनी जय। परन्तु मेखले, क्या ‘चक्र की जय’ इस निनाद को ढक न लेगी?”

कोई उत्तर न देकर मेखला द्रुतपग से आगे बढ़ आयी और चक्र के संस्पर्श में कहने लगी—“मैं ले चलूँगी।”

“नहीं रूपसि, तुम हाथ के छाले दिखाती फिरती हो। अब तो हम अपनी इस लम्बी यात्रा के छोर पर आ पहुँचे हैं।”—मेखला का हाथ हटा दिया उसने।

ग्राम के मंडल को व्यास पर काटता हुआ चक्र चला, चक्रकांत ने हाथ नहीं लगाने दिये उसपर फिर मेखला का।

“इसी प्रकार बातें करती हुई ही मेरा अनुसरण करती रहो सुन्दरि! निश्चय ही यदि तुम कोई रसपूर्ण प्रकरण छेड़ दोगी, तो श्रम का ध्यान ही न रहेगा कुछ।”

कुछ लज्जा में भरी और कुछ हँसती हुई मेखला पीछे-पीछे चल रही थी। कुछ देर पश्चात् बातें भी करने लगी। उन यात्रियों को दोनों ओर हरे-भरे खेत दिखाई देने लगे; कहीं-कहीं दूर और निकट ग्राम भी। कृषक नर-नारी जो भी उन्हें देखते, चक्र की ओर उत्सुक दृष्टि से निहारते।

मार्ग के पार्श्व में खड़े एक वृक्ष के तने पर चक्रकांत ने अपने चक्र को टहरा दिया—“नहीं, विश्रांति नहीं हूँ मेखले, चक्र भारदाता नहीं है, भारवाही है। इसने मनुष्य के श्रम का अधिकांश हर लिया है! सुनो, एक बात कहनी है तुमसे। सामने देखो, वह कुआँ है। एक मनुष्य उसमें से जल निकाल रहा है।”

“बर्तन तो नहीं देखा मैंने; पर रस्ती अवश्य खींच रहा है।”

“चक्र से अनभिज्ञ हैं ये ग्रामवासी । होता तो क्या कुएँ पर न होता ।”

मेखला ने अनुमोदन किया—“चक्र होता, तो इतना श्रम न करना पड़ता उसे । अधिक परिश्रम से खींच लिया है अब उसने बर्तन । कैसा विचित्र बर्तन है यह ?”

“इस बर्तन की असंतुलित गढ़न भी बताती है कि नगर में भी चक्र व्यवहृत नहीं है ।”

फिर चलने लगे दोनों । दूर से उन्हें एक ऊँचा और वर्तुलाकार प्राचीर दिखाई दिया । मार्ग पर स्थापत्य का एक निर्माण भी ।

“नगर की सीमा आ गयी !” चक्रकांत बोला—“अरण्य की बाड़ पर केवल नीला आकाश, ग्रामों की रक्षा पर अरण्य ; परंतु नगर की सुरक्षा के लिए इतनी ऊँची दीवार उठायी गयी है ! यहाँ से बुद्धिवाद आरम्भ होता है । यह दुर्लभ्य सीमा उसी की है ।”

“मागे दृढ़ द्वारों से अवरोध किया गया है । वे मुक्त हैं सही, पर किनारे पर खड़ा एक प्रहरी ही तो है न ?”—मेखला बोली ।

“राजधानी की प्राचीर तो और भी लौह की बनी होगी । कूटता के भीतर बुद्धिवादी भी अपना मार्ग नहीं निकाल सकता । श्रम की सरलता पर बुद्धि का प्राबल्य है और बुद्धि पर शासन है कूटज्ञता का ।”

“गुरुदेव को छोड़ दिया ?”

“गुरुदेव एक रहस्य है, कूटता से भी परे । इन सबसे मुक्त रहकर इन सबको बाँधे हुए हैं ।”

“प्रहरी ने अवरोध कर दिया यदि हमारा मागे ?”—कुछ चिंता के साथ मेखला बोली ।

“अबाध गति है चक्र की । कौन उसे रोक सकता है ? तुम मार्ग पर सीधी दृष्टि रखना । द्रुत पगों से मेरे पीछे-पीछे चली आना । प्रहरी की ओर भूलकर भी न देखना । वज्रांक की प्रजामात्र के लाभ के लिए वहाँ जा रहे हैं हम । शोषण या अपहरण का कोई विचार रखते हैं हम ?”

प्रवेश-द्वार पर कुछ द्रुतगति से चला दिया चक्रकांत ने अपना चक्र । सीधी दृष्टि कर उसके पीछे-पीछे दौड़ गया ।

चक्रकांत

प्रहरी ने दौड़कर उसका चक्र पकड़ लिया—“कहाँ जाते हो जी ?”

“नगर में, और कहाँ ?”—टढ़ता से चक्रकांत ने उत्तर दिया ।

“क्या काम है ?”

“यह चक्र चलाना है ।”

“ऐंद्रजालिक हा कोई ?”

“जैसा भी समझो ।”

“बख़ दिखाओ । अख़-शख़ तो नहीं छिपाकर रखे हैं कोई ?”

“तुम एक संध्रांत व्यक्ति का अपमान करते हो । क्या ऐसे ही तुम्हारे राज्य की कीर्ति फैलेगी और श्री-वृद्धि होगी । हम उसके व्यापार को बढ़ाने आये हैं ।”

“राजनीति से ता कोई सम्बन्ध नहीं है तुम्हारा ?”—प्रहरी ने पूछा ।

“नहीं, तिलांश भी नहीं । गुरुदेव ने भेजा है हमें ।”

गुरुदेव का नाम सुनते ही प्रहरी ने मार्ग छाड़ दिया ।

“गुरुदेव ने भेजा है तुम्हें ? जाओ । गुरुदेव की जय ।”

चक्रकांत और मेखला नगर के भीतर चले । हँसकर पति ने कहा—“मुझे क्या ज्ञात था कि नगर के द्वार भी गुरुदेव की जय पर ही खुलते हैं । निश्चय ही नगर तक गुरुदेव की जय व्याप्त है । पर, शंका है राजधानी का दुर्ग न खुलता होगा इस जय पर !”

उन्होंने नगर में प्रवेश किया । लोगों की भीड़ ने घेर लिया ।

किसी ने पूछा—“कहाँ से आये हो ?”

किसी ने कहा—“यह क्या है ?”

एक ने कहा—“श्रेष्ठी वरद के यहाँ जाओगे ? वही तो इस नगर का सबसे सम्पन्न व्यक्ति है ।”

“कहाँ रहते हैं वह ?”—मेखला बोली ।

“वह सामने जो सबसे ऊँची अट्टालिका है, उसी की है ।”

चक्रकांत ने कहा—“हाँ श्रेष्ठी वरद के ही यहाँ जाना है हमें ।”

श्रेष्ठी वरद के द्वार पर जाकर वह भीड़ खड़ी हो गयी ।

श्रेष्ठी वरद ने झरोखे पर से देखा । दो विदेशियों को लेकर नगर

की भीड़ उसके द्वार पर खड़ी है। वह नीचे उतर आया, उसने पूछा—
“क्या है ?”

भीड़ में से एक ने कहा—“आपके अतिथि आये हैं।”

“कहाँ से ?”—वरद ने पूछा।

चतुर चक्रकांत बोल उठा—“मेरा नाम चक्रकांत है, महाचीन से
आया हूँ। गुरुदेव ने आपके पास भेजा है।”

भीड़ चिल्लायी—“गुरुदेव की जय हो !”

बड़ी अभ्यथना के साथ वरद श्रेष्ठी ने चक्रकांत के हाथ पकड़
लिये और उसे अपनी अट्टालिका के चौक के भीतर ले चला।

“मेरी पत्नी भी हैं मेरे साथ।”

मेखला आगे बढ़ आई।

उस अद्वितीय रूपसी को अपने अतिथि के रूप में पाकर श्रेष्ठी
पुलकित हो उठा। उसके स्वागत के लिए भी वह भीड़ में से मार्ग
निकालने लगा।

चक्रकांत भीड़ को निराश कर स्वयं अट्टालिका में प्रवेश कर जाना
नहीं चाहता था। कहने लगा—“एक और भी है हमारे साथ।”

“कितने भी क्यों न हों। वरद के अतिथि-सत्कार की कदापि
परीक्षा न होगी यह।”

उस अतिथि ने प्रवेश-द्वार के सहारे टिके अपने चक्र को उठा लिया।

“यह क्या है ?”—श्रेष्ठी ने उत्सुकता से पूछा।

“यह चक्र है। इसी की सहायता से हमारी और आपकी मैत्री के
सम्बन्ध सुदीर्घ और सुदृढ़ होंगे।”

“क्या होता है इससे ?”

यह शक्ति का उद्गम है। इसके अगणित कार्य हैं। इसके कौतूहल
पर ही यह भीड़ मुझे घेरे हुई है। मैं इन्हें भी इस शक्ति-चक्र का एक
प्रयोग दिखाना चाहता हूँ। भीड़ को भी मेरे साथ चौक में प्रवेश करने
की आज्ञा दीजिए श्रेष्ठिवर !”

सब लोग चौक में बिठा दिये गये। बीच में चक्रकांत मेखला और
चक्र को लेकर खड़ा हो गया। चारों ओर के दशकों की दृष्टि बीच में
खड़े हुए उन अभिनेताओं को देख चकित और चमकन थी। वह अवश्य

चक्रकांत

कोई चमत्कार दिखावेगा, यह विश्वास उनके मन में खिल उठा। उसकी बातें सुनने के लिए सबने मौन धारण कर लिया।

श्रेष्ठी बोला—“कुछ बिछाने को मँगवा देता हूँ।”

“बिछाने को तो कुछ नहीं। एक कीलो, एक दण्ड मँगवा दीजिए। एक पात्र में जल और कुछ गीली महीन मिट्टी भी।”

श्रेष्ठी ने उसी समय इनके अतिरिक्त और भी जिस वस्तु की आवश्यकता हो लाने के लिए अपने भृत्य नियुक्त कर दिये।

चक्रकांत बोला—“वास्तव में गुरुदेव केवल एक निमित्तमात्र हैं। भगवान् की प्रेरणा से मैं इस देश में आया हूँ। आप लोगों की यदि मुझ पर सद्भावना बढ़ती गयी, तो मैं इस देश की समस्त काया पलट दूँगा। इस चक्र में बड़ी-बड़ी विचित्रताएँ हैं।”

“ठहरो चक्रकांत, मेरे अधीन कई कलाकार हैं। मैं चाहता हूँ कि यहाँ सम्मिलित होकर वे भी तुम्हारा कौतुक देखें।”—श्रेष्ठी ने कहा।

चक्रकांत ने घबराकर कहा—“कलाकार! क्या करते हैं वे?”

“वे चित्र बनाते हैं, मूर्तियाँ गढ़ते हैं, स्थापत्य का निर्माण करते हैं। गीत-नृत्य में भी चतुर हैं और अभिनय भी करते हैं। वे कलाकार हैं, जातियों के उद्भव के प्रदीप!”—श्रेष्ठी ने उत्तर दिया।

“उनके पास चक्र भी है?—ऐसा या इसके अनुरूप?”

“नहीं, चक्र तो नहीं है। परंतु वे अपनी कला से हमें आश्चर्यचकित कर देते हैं।”

चक्रकांत की सारी चिंता खंडित हो गयी। वह बोला—“अवश्य बुलाइये उन्हें।”

श्रेष्ठी ने कलाकारों को बुला लिया। वह अंतःपुर में गया और स्त्रियों तथा बालकों से भी उस लीला को देखने का आग्रह किया।

चौक की भीड़ पर बहुत-से तो पहले ही आकृष्ट हो गये थे। नौकर-चाकर, दास-दासी सब ऊपर से देखने लगे अपने सारे काम छोड़कर।

मेखला ने चक्रकांत का हाथ बटाया। उसने भूमि में एक कीली गाड़ी और उसकी नोक पर चक्र का केंद्र रखवा। उसने दंड से उस चक्र को कई बार घुमाकर छोड़ दिया। चक्र ने अपने चक्रों में समस्त दशकों की आँखें खींच लीं। इसके पश्चात् उसने घूमते हुए चक्र के

बीच में सानी हुई मिट्टी रखी। चक्र का वेग कुछ कम हो गया था। उसने फिर दंड की सहायता से उसे प्रचालित कर दिया।

हाथ में जल लेकर उसने मिट्टी को थपथपाया। मिट्टी में एक शीर्ष उपज गया। उस शीर्ष पर की मिट्टी पर उसने पलक मारते एक दीपक की रचना कर दी।

मेखला ने अपनी पीठ पर भूलती हुई बेणी में से एक डोरी ताड़ कर अपने पति को दे दी। चक्रकांत ने उसे पानी में भिगाकर उससे वह दीया चक्र पर से काटकर भूमि पर रख दिया। समस्त दर्शकों के मन विस्मय से भर गये। पर केवल कलाकार परस्पर कानाफूसी कर अपना संशय दिखाने लगे।

एक के पश्चात् दूसरा, खटा-खट चक्रकांत ने सात दीपक बनाकर भूमि पर रख दिये। सुंदर, सुडौल, क्षण के निर्माण वे दीपक समस्त दर्शकों के मन में अकृत्रिम हर्ष का प्रकाश करने लगे। ऐसा कौतुक कभी देखा ही न था उन्होंने।

“इन्हें केवल सात ही दीपक न समझिए। संध्या होने में कुछ विलंब नहीं है। फिर भी यदि आप यहाँ पर गीली मिट्टी का ढेर लगा दें, तो मैं अंधकार फैल जाने से पहले ही इस नगर के प्रत्येक गृह के लिए एक-एक प्रदीप प्रस्तुत कर सकता हूँ।”

भीड़ में से कुछ लोगों ने उल्लसित होकर पुकारा—“गुरुदेव की जय!”

“यह गुरुदेव की जय तो नहीं है। उनके पूजा-पाठ, शंख-घंट में से इस चक्र की कोई योजना नहीं ली गयी है। फिर ‘गुरुदेव की जय’ कैसी? यह तो ‘चक्र की जय’ है।”

कलाकारों में से एक आगे बढ़कर बोला—“अहो कलाकार! निःसंदेह तुम्हारा कौशल स्तुति के योग्य है, पर तुम्हें गुरु के निर्वास पर अपना अहंकार नहीं बढ़ाना चाहिए। गुरु की जय के आधार पर जिस कर्म का अस्तित्व नहीं है, वह तामसिकता है। ये तामस-प्रदीप चक्रांग में आलोक विकीर्ण न कर सकेंगे।”

“चुप रहो कलाकार! एक कोरे आदर्शवाद की बाधा न दो। चक्र की इस आश्चर्यजनक शक्ति से सभी विमुग्ध हुए हैं।”

चक्रकांत

चक्रकांत बोला—“अभी आपको इसके चमत्कारों का रंचमात्र परिचय भी नहीं मिला है।” उसने फिर चक्र घुमाया और उस मिट्टी से अनेक पात्र बनाकर सामने रख दिये। फिर कुछ लोटे भी बना डाले।

“ये रात-दिन के उपयोग की वस्तुएँ प्रत्येक नागरिक के लिए सुलभ कर दी जायँगी। पर इसे केवल एक भूमिका ही समझना होगा। स्वस्थचित्त हो यहाँ बस जाने पर ही इसकी अधिक शक्तियाँ का प्रदर्शन करूँगा फिर।”

श्रेष्ठी चक्रकांत के कौशल पर अपने व्यवसाय के सुवर्ण स्वप्न रचने लगा। किसी भी मूल्य पर उसने चक्रकांत को अपने संपर्क में रख लेने का दृढ़ निश्चय किया।

कलाकारों का दल फिर कुछ बड़बड़ाने लगा था। चक्रकांत को वशीभूत करने के लिए वरद श्रेष्ठी ने उन क्षुब्ध कलाकारों को संबोधित कर कहा—“आज से तुम अपनी समस्त कला इन्हें—चक्रकांत को समर्पित कर दो। उपदेश, कर्म और परंपरा के लिए आज से तुम इनके अनुगत हुए। तुम्हारा और मेरा केवल वेतन का संबंध रहा।”

कलाकारों के बीच में भेद पैदा हो गया। एक दल ने सहज ही श्रेष्ठी की बात मान ली। दूसरे दल का नायक कहने लगा—“यह तो एक उद्यम है, कला उद्यम की अनुगामिनी नहीं हो सकती, वह तो योग की अनुचरी है।”

“उद्यम किसे कहते हो तुम?”—श्रेष्ठी ने पूछा।

“मन और बुद्धि के विसर्ग से मुक्त कर्म ही उद्यम है।”

“और कला?”

“मन और बुद्धि की छाया की भौतिक अभिव्यक्ति ही कला है।”

“इस चक्र में बुद्धि का संश्लेष नहीं दृष्टिगोचर होता तुम्हें? तब तुम निश्चय नेत्रधारी होने पर भी अंधे हो। कौशल बुद्धि की प्रेरणा है, क्या यह चक्र बिना उसकी सहायता के प्रवर्तित हुआ है? इसमें कर्म का अद्भुत कौशल है। इसमें शक्ति है, सौंदर्य है, जीवन है, वेग है, उपयोगिता है। यह मेरे व्यवसाय को ही अल्प समय में उन्नत न कर देगा, राज्य की सारी प्रजा के सुख का संवर्धन कर देगा यह। तुम

इसे उद्यम कहते हो, मैं इसे योग कहता हूँ। यदि तुम इसे अपनी कला समर्पित नहीं कर सकते, तो मेरे वेतन से मुक्ति पा लो आज ही।” — श्रेष्ठी ने कहा।

कलाकारों के उस दल ने फिर मौन साध लिया।

संध्या निकट थी। चक्रकांत ने भीड़ से चले जाने को कहा। उस चक्री के आगमन की भाँति-भाँति की चर्चा फैलाते हुए भीड़ अपने-अपने घरों को चलती बनी।

चक्र की सुरक्षा का प्रबंध कर श्रेष्ठो उन दोनों को ऊपर अपनी अट्टालिका में ले गया और एक सुसज्जित कक्ष में ले जाकर उन्हें प्रतिष्ठित किया। दास-दासियों ने वहीं उनके मिट्टी में सने हाथ धुलाये। रसोइए उनके लिए विशेष भोजन बनाने में नियुक्त हुए।

श्रेष्ठी बोला—“चक्र—एक अद्भुत वस्तु यह आप अपने साथ लाये हैं। इससे आपने मेरा गौरव बढ़ाया है, मेरे मन में आपकी सेवा जाग उठी है।

“सेवक तो हम हैं श्रेष्ठिवर, आप यह कैसी उल्टी बातें करते हैं। किसी भी विशिष्ट विधान को करने की आवश्यकता नहीं होगी आपको।”

“कैसे न होगी ? आप सम्माननीय अतिथि हैं हमारे।”

“हम तो बराबर यहाँ रहने के लिए आये हैं। आप अतिथि की संज्ञा देकर हमारी उस लालसा को मिटा देंगे क्या ?”

“नहीं ! नहीं ! नहीं !” दाँतों पर जीभ रखकर श्रेष्ठी ने तुरंत ही निराकरण किया—“आप केवल हमारे होकर ही यहाँ रहें। मेरी भी यह लालसा है।”

“आप व्यवसायी हैं। भाव और तोल की स्पष्ट निर्धारणा व्यवसाय का मूल मंत्र है। अभी न सही, चक्र की समस्त शक्ति से अवगत हो जाने पर आपको हमारा वेतन निश्चित कर देना होगा। हमारे निवास और भोजन की अलग व्यवस्था करनी होगी।”

“यह सब हो जायगा। यदि आपको अतिथि की संज्ञा मान्य नहीं है, तो सेवक की मुझे भी ग्राह्य नहीं। मध्य बिंदु ग्रहण कर लें, तो ठीक होगा। आप हमारे सम्माननीय मित्र के रूप में यहाँ रहेंगे,

उचित यही है, क्यों ? आप मेरे व्यवसाय के अंश-भागी होकर रहेंगे। कर्म मेरा, नौकर-चाकर मेरे, बुद्धि आपकी। द्रव्य मेरा, चक्र आपका; देह मेरी, प्राण आपके।”

चक्रकांत ने मेखला की ओर दृष्टि की उसकी मौन सम्मति जानने के लिए।

मेखला बोल उठी—“ठीक तो है।”

चक्रकांत ने भी कहा—“ठीक तो है, हमारे आपके संबंध की यह पहली भूमिका निश्चित हुई। विस्तार में फिर निश्चय कर लेंगे।”

श्रेष्ठी वरद अपने परिवार सहित उनकी अभ्यर्थना में लगा। उन्हें भोजन करा उनके शयन का प्रबंध किया गया। धूप-सुगंधि, पान-तांबूल से शयन-कक्ष महँक उठा। फिर नर्तकियों ने आकर अपने सुमधुर नृत्य-गीत से अतिथियों का मनोरंजन किया।

उसके अनंतर बहुत देर तक श्रेष्ठी उनसे बातें करता रहा। बातों ही बातों में जब बहुत रात बीत गयी, तब श्रेष्ठी बोला—“अब आपको विश्राम करना उचित है। अब जब आप हमारे ही हो गये, तो हमें अपने लालच को दबा देना चाहिए। आपने चक्र की जो संभावनाएँ हमें इस समय सुनायी हैं, उससे हमें यह पूर्ण निश्चय हो गया है कि हम और हमारा नगर ही आपके कारण गौरव को प्राप्त नहीं होंगे, वरन् यह समस्त वज्रांक देश और उसके आसपास का सारा भूमिभाग एक नये युग में प्रविष्ट हो जायगा।”

“हाँ श्रेष्ठिवर, वह युग चक्र-युग होगा। प्रजा की प्रगति में यह चक्र असीम वेग भर देगा, मनुष्य के श्रम का भार अपने कंधों पर उठा लेगा। यह सारा रहन-सहन प्रभावित हो जायगा इससे। यह काल को अपने चक्कर में फँसा लेगा और दूरी को संक्षिप्त कर देगा। एक नवीन शक्ति ही नहीं, नवीन सौंदर्य में सारा राज्य स्नात हो उठेगा। खेती अधिक हरी-भरी हो जायगी, नगरों का व्यवसाय समुन्नत हो जायगा।”

श्रेष्ठी बोला—“यह सब समझ रहा हूँ मैं। मेरे एक भय को दूर करो चक्रकांत !”

चक्रकांत—“भय कुछ भी नहीं श्रेष्ठिवर !”

श्रेष्ठी—“आप मेरी मित्रता छोड़कर राजधानी की ओर तो न बढ़ जायेंगे ?”

चक्रकांत—“क्यों होगा ऐसा ?”

श्रेष्ठी—“महाराज ने तुम्हारी प्रतिभा को हस्तगत करने के लिए कोई प्रभुता या लालच दिखाया तो ?”

चक्रकांत—“मुझे राजशक्ति का कोई भय नहीं है, न राजलक्ष्मी ही मुझे आकर्षित कर सकती है। मेरे चक्र में इन दोनों की सत्ता है। भरोसा रखो। इस प्रदेश में जिसे पहला मित्र बनाया है, वही अन्तिम भी रहेगा।”

श्रेष्ठी—“यदि गुरुदेव ने तुम पर कोई मंत्र चला दिया तो ?”

“असत्य संभावना ! गुरुदेव के पास मेरे चक्र को पूजा में रखकर निर्जीव कर देने के अतिरिक्त और कोई भावना नहीं है। हमारे लिए कोई स्थान नहीं है वहाँ।”—चक्रकांत ने कहा।

वरद के दोनों संशय समाप्त हो गये ! वह प्रसन्न होकर अपने नवीन मित्र को विश्राम करने के लिए छोड़कर विदा हुआ।

“मेखले, यह सुसज्जित कक्ष वरद ने अतिथियों के लिए सुरक्षित कर रक्खा है। कदाचित् अट्टालिका की बहुमूल्य साज-सज्जा इसमें अधिकाधिक मात्रा में है। इससे श्रेष्ठी की सम्पन्नता का परिचय मिलता है हमें, साथ ही इस देश की सभ्यता का भी। ऊन, सूत, लकड़ी, प्रस्तर और धातुओं के ये विविध निर्माण हमारे सामने हैं। शिल्प और कला के उत्तम निदर्शन हैं ये, पर एक शाश्वत अभाव सर्वत्र ही उच्चस्वरित है इनमें। वह अभाव है चक्र का। सममात्रिकता की साधना में घोर परिश्रम किया है इस जाति ने। यदि चक्र का उपयोग जानते होते तो क्या बात थी।”

मेखला ने शय्या का पाया पकड़कर कहा—“एक ही उदाहरण पर्याप्त है यह। शिल्पी की सुरुचि झलकती है इसमें। केवल हाथों से घोर परिश्रम किया है उसने, परन्तु वह उसकी गढ़न में समता नहीं दे सका।”

“यदि चक्र पर रखकर इसका निर्माण होता, तो थोड़े ही श्रम से अधिक आकर्षक हो जाता।”

चक्रकांत

“परकार भी नहीं है इनके पास। इस धूपपात्र के नीचे जो थाली रखी गयी है, उसमें कुछ वृत्ताकार आकृतियाँ ग्वोदी गयी हैं, सबकी सब केंद्रविच्युत और भोंड़ी !”—मेखला ने धूपपात्र के नीचे से वह थाली सरकाकर पति को दिखायी।

“वहीं रख दो थाली, मैं देख चुका हूँ। परकार ही तो चक्र का आरम्भ है। दोनों पैर स्थिर या गतिवान करने से नहीं, एक स्थिर कर एक को चलायमान करना ही वृत्त की उपलब्धि है।”

“केंद्र भी तो चलता ही है।”

“अपनी ही स्थिति पर चलना स्थैर्य ही है। केंद्रीकरण नहीं हुआ है इस जाति का।”

“चक्र पर इसका भूगोल निर्मित तो है। राजधानी केंद्र में है।”

“व्यतिक्रम है यह। राजा को परिधि पर रहना था, केंद्र में गुरुदेव का मन्दिर होना चाहिए था।”

“परकार का कोई भी सिरा केन्द्र में स्थिर किया जा सकता है।”

“राजसत्ता चपलता का नाम है।” चक्रकांत ने मेखला के चिबुक पर एक हल्की चपत लगाकर कहा—“तुम्हारी पलकों पर निद्रा भूम चली है। अपने अधरों के द्वार बंद कर क्या तुम विवाद को बंदी न कर लोगी ?”

दूसरे दिन श्रेष्ठी के समस्त कलाकार चक्रकांत को समर्पित हुए। श्रेष्ठी के समस्त कला-भवन और उद्योगशालाएँ भी उसी के अधीन कर दी गयीं।

“आप चाहें तो मैं आपको और भी मनुष्य दे सकता हूँ। श्रमजीवियों का अभाव नहीं है। कलाकार इतनी ही परिमित संख्या में हैं।”

“पर्याप्त हैं। आरंभ में मैं केवल चक्र-निर्माण ही करूँगा। चक्रों के बन जाने पर बहुत-से श्रमजीवी भी कलाकारों के वर्ग में सम्मिलित हो जायेंगे।”—कहते हुए चक्रकांत की दृष्टि हठात् उद्योगशाला के एक भाग पर गयी, जहाँ कई मनुष्य कुछ घुमा रहे थे।

“वह क्या कर रहे हैं ?”—उसने चकित होकर पूछा।

“तकली पर सूत कात रहे हैं वस्त्र-वयन के लिए।”—श्रेष्ठी ने उत्तर दिया।

चक्रकांत द्रुतपग से उधर बढ़ गया। उसने वहाँ जाकर पूछा—“केवल तकली ! चरखा नहीं है ?”

“चरखा क्या हुआ ?”—वरद ने कहा।

“बताऊंगा। यहीं से चक्र चलेगा।”

लकड़ी, प्रस्तर और धातु के भिन्न-भिन्न गोलाइयों के चक्र बनने आरंभ हुए। उद्योगशालाओं के निकट ही भव्य अट्टालिका में चक्रकांत को रहने के लिए स्थान दिया गया।

चक्र चला, संकांति परिदर्शित हुई। सबसे पहले चरखे का निर्माण हुआ। सब तकलीधारियों की तकलियाँ ताक पर रख दी गयीं। चक्रकांत ने उन्हें चरखे बनाकर दिये और उन्हें चलाना सिखाया।

अभूतपूर्व क्षिप्र गति से सूत्र कात चला। बुनकरों के यंत्रों में भी चक्र का समावेश कर चक्रकांत ने उनका श्रम हलका कर उनको धीरज बँधा दिया। वस्त्रों का ढेर लग चला।

उधर चाक चला और कुंभकारों का आविर्भाव हो गया। उन्होंने नाना प्रकार के उपयोगी पात्रों की रचना की और साज-सज्जा का सामान उपलब्ध किया।

कहीं खराद चले। उनपर धातुओं के वर्तन बनने लगे और कहीं लकड़ी का काम होने लगा। भाँति-भाँति की वस्तुओं से भंडार भर गये श्रेष्ठी के।

आटा नामक कोई संज्ञा नहीं थी वज्रांक में। कभी सिल पर पिस जाता हां कुछ, रोटी नहीं बनती थी कहीं भी। किसान की भोपड़ी में नहीं, और महाराज की पाकशाला में भी नहीं। चावल की भाँति गेहूँ भी उबालकर, भूनकर या नलकर खाया जाता था।

कुछ दिन के अनंतर प्रवेश किया रांटीवादी ने वज्रांक के भीतर, पर उसके लिए मार्ग चक्रकांत ही ने बनाया, इसे कोई भी अस्वीकार न करेगा। पहले आटा, तब रोटी।

चक्की भी चली, गेहूँ पिसा और तवा नामक एक नया पात्र चूल्हे

चक्रकांत

पर विराजमान हुआ। खाद्य-सामग्री में एक नवीन प्राकार समाविष्ट हुआ और जिह्वा ने एक अनोखा स्वाद पाया।

पहली चक्की मेखला ने चलायी थी। जो कुछ आटा पिसा था, उसका अधिकांश श्रेष्ठी को उपहार में भेजा गया। शेष रोटियाँ बनने के लिए चक्रकांत के रम्भेईघर में पहुँचा।

उस दिन रोटियाँ मेखला को ही बनानी पड़ीं। महाराजिन चुपचाप उस नये प्रयोग को निहारती रही।

“बहुत दिन पश्चात् रोटि खाने को मिली, इसी से इतनी स्वादिष्ट जान पड़ती हैं, या तुम्हारे हाथों की बनी हैं इससे ?” चक्रकांत ने कहा।

मेखला हँसकर बोली—“महाराजिन को सिखा चुकी हूँ। कल से वही बनावेगी। सारी उँगलियाँ जल गयीं मेरी। रहने दी होती यह चक्की। बहुत दिनों तक अभ्यस्त न होने पर जलाती रहेगी अब महाराजिन उँगली, और तब तक निस्संदेह इस आटे के निर्माण को कोसती रहेगी।”

‘हलुवा-पूरी भी तो खावेगी।’

श्रेष्ठी की एक दासी आ पहुँची उलाहना लेकर।

“क्या हो गया ?”—मेखला ने पूछा।

“आटा, दो तवाँ और रोटी बनाने के पूरे विधि-विधान के साथ ही श्रेष्ठी के यहाँ भेजा गया था। पर भूल हो गयी !

“क्या भेज दिया आपने ? आटा न हाथ से ही छूटता है, न पात्र से ही विलग हो रहा है। कैसे बनेगी रोटी ?”

“पानी कितना मिलाया ?”

“जितना घड़े में था।”—दासी ने उत्तर दिया।

“गीला कर दिया आटा। थोड़ा-थोड़ा कर मिलाना था। जा, सूखा आटा मिलाकर ठीक कर ले।”—मेखला ने कहा ?

“सूखा आटा नहीं है। एक तवे के साथ उसका अधिकांश श्रेष्ठी ने महाराज के पास उपहार-स्वरूप भेज दिया।”—दासी बोली।

“वहाँ भी यदि आटा गीला हो गया होगा, तो महाराज क्या

कहेंगे ? तुम्हें जाना पड़ेगा मेखले दोनों जगह ठीक-ठीक प्रयोग दिखाने के लिए। आटा मैंने बनाया है, तो रोटी बनाने में सिद्धहस्त तुम्हीं हो।” —चक्रकांत ने कहा।

आँगूठा दिखाकर मेखला बोली—“धरी हूँ मैं जाने को ? सब सिखा चुकी हूँ महाराजिन को। भेज दीजिए उसे।”

“गोले आटे को क्या करेगी वह ?”

“चाकरोँ के हाथ चक्की ही भेज दो, आटा पीस लेंगे स्वयं।”

चक्की और महाराजिन दोनों उसी समय श्रेष्ठी के यहाँ भेज दिये गये। श्रेष्ठी का परिवार उस दिन पहले-पहल रोटी का स्वाद चखकर चमत्कृत हो उठा। उन्होंने स्वाद ही नहीं लिया, पिसे हुए गेहूँ ने उनके शरीर में एक अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति प्रकट कर दी।

दूसरे दिन दौड़ा हुआ श्रेष्ठी आ पहुँचा और कहने लगा—“मित्र चक्रकांत, चक्की तो एक अद्भुत आविष्कार जान पड़ता है। जो आटा उसने पीसा, जो रोटी उससे बनायी गयी, वैसी स्वादिष्ट और गुणदायक वस्तु हमने दूसरी नहीं चखी कभी जीवन में।”

“हो सकता है।” चक्रकांत ने हँसकर कहा—“अभी और भी तो अनेक आश्चर्य चक्र के गर्भ में हैं।”

“सुनो मित्र मैं समझता हूँ चक्की को हमें प्रकट न करना चाहिए। चाक और चरखा तो हमारी असावधानी के कारण चारों ओर नगर में फैल गये हैं। कुछ लोगों ने देखकर बना लिये और कुछ को हमारे कलाकारों ने सिखा दिया। दूसरे नगरों में भी हमारे प्रतिद्वंद्वी बढ़ने लगे हैं। इससे हमारे व्यवसाय को हानि पहुँचाने लगी है। चक्की को तो गुप्त ही रखेंगे। बिना एकाधिकार के व्यवसाय उन्नत नहीं हो सकता। आटा, यह एक अद्भुत वस्तु है। यदि हम इसका रहस्य बाँध सके, तो, भोजन नहीं, औपधि के दामों में बेच सकेंगे इसे बहुत दिनों तक।”

सिर हिलाकर चक्रकांत बोला—“चक्की को रहस्य नहीं बना सकते हम।”

“क्यों नहीं बना सकते ?”

“उसे महाराजिन और चाकरो ने देख पाया है।”

“हम उन्हें शपथों में बाँध लेंगे।”

“असम्भव !”

“धन का लालच दिखाकर उनका मुख बन्द कर देंगे।”

यह भी नहीं हो सकता। चक्की में श्रम से ही आटा पीसा जायगा। मैं चक्की का आविष्कार कर सकता हूँ, आप रोटी खा सकते हैं। हम दोनों में से कोई भी दिन भर चक्की नहीं चला सकता। उसमें दास-दासियों की नियुक्ति करनी ही पड़ेगी। श्रमजीवी से रहस्य की संभाल नहीं हो सकती, उसके लिए परिपक्व मस्तिष्क अपेक्षित है। फिर जब हमारा सेवक आटा पीसेगा, तब रोटी के स्वाद के लिए निःसन्देह उसके कौतूहल बढ़ेगा। वह अपने घर जाकर अवश्यमेव चक्की का निर्माण कर लेगा और रोटी को चखकर घर-घर उसे फैला देगा। इसलिए फैल जाने दीजिए उसे ! आपके व्यवसाय के लिए और भी अनेक वस्तुएँ हैं।”—चक्रकांत ने कहा।

इसी समय एक अश्वारोही वरद श्रेष्ठी को ढूँढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचा और बोला—“मैं राजधानी से महाराज के पास से आ रहा हूँ। आपके आटे के उपहार की पूरी बनावट उन्होंने खायी है। वह परम संतुष्ट हुए हैं। उन्होंने आत्मानन्द लाभ किया है। उस आटे का रहस्य जानने के लिए उन्होंने तुरन्त ही आपको बुलाया है। यदि आपको ज्ञात न हो, तो जो जानता है उसे लेकर मेरे साथ चलिए।”

वरद ने चक्रकांत की ओर देखा—“मैंने तुम्हारे बनाये हुए सुंदर से सुन्दर धातु, लकड़ी और मिट्टी के पात्र महाराज के पास भेजे। रंगों से विभूषित खिलौने एवं साज-सज्जा के अनेक उपकरण भेंट में दिये। चर्खे से उपलब्ध कई प्रकार के वस्त्र और बिछौने भेजे। किसी पर महाराज इतने मुग्ध नहीं हुए, जितना आटे पर।”

“हाँ वही नहीं, उनका समस्त अंतःपुर उसपर लट्टू हो गया है, चलो। एक-आध चुटकी मुझे भी दे दो।”—अश्वारोही बोला।

वरद ने कहा—“चलो चक्रकांत !”

“तुम जानते ही हो, मैं उद्योगशाला छोड़कर चला जाऊँ, तो समस्त उद्योगियों के दिन भर का कर्म नष्ट हो जायगा। तुम्हें सब कुछ ज्ञात है, जाकर बता दो महाराज को। चक्की ही जाकर भेंट कर आओ उन्हें।”

“एक ही तो है।”

“अनेक बना दी जायँगी। क्या चिंता है ?”

वरद ने जाकर वह चक्की महाराज को भेंट कर दी उसके समस्त विधि-विधान के साथ। चक्रकांत ने उसी दिन दो चक्कियाँ और बना लीं। एक वरद के लिए और एक स्वयं अपने लिए।

वरद ने चक्रकांत के हाथ पकड़ लिये—“अब और अधिक किसके लिए बनाते हो ?”

“तुम्हारे किसी कृपापात्र के लिए।”

“नहीं, उसके घर पिसवाकर आटा ही भिजवा दूँगा मैं, चक्की नहीं।”

“इसे देकर बनाते क्या देर लगेगी ?”

“कुछ दिन तो हम आटा बेच सकेंगे मनमाने दामों पर।”

“चक्कियों का ही व्यापार क्यों न किया जाय ? वह अधिक लाभप्रद होगा।”—चक्रकांत ने कहा।

तीन

इस उठी चक्की राजा, श्रेष्ठी और चक्रकांत की अट्टालिकाओं में, पक्वान्न की सुगंध से पास-पड़ोस आमोदित हो उठा। उसको प्राप्त करने के लिए लोगों में प्रबल प्रेरणा जाग उठी। नौकर-चाकरों ने उसकी रूप-रेखा ही बाहर नहीं फैला दी, इष्ट-मित्रों को आटे का स्वाद भी चखा दिया।

बहुत से राजभवन, श्रेष्ठी और चक्रकांत से संबद्ध नागरिकों ने चक्कियाँ बना लीं और गेहूँ पीस-पीसकर आटे का स्वाद चखा, आटा बेच-बेचकर दूसरों में भी वह आनन्द वितरित कर दिया।

बरद जिसे रहस्य बनाकर लाभ नहीं उठा सका था, उससे दूसरे श्रेष्ठियों ने अपना व्यवसाय चमका लिया और चक्की के भेद को नगर की प्राचीरों के बाहर ग्रामों की ओर जाने नहीं दिया।

आटा पहुँच गया ग्रामों में भी। ग्रामवासियों के मन में रोटियों ऐसी बसीं कि फिर उन्हें गेहूँ के दाने में कोई स्वाद न रहा। वे उसका अन्तिम दाना बेचकर भी नगर से आटा क्रय कर लाने लगे।

वज्रांक में घर-घर आटा फैल गया। अपनी माधुरी से सबको मोहित कर लिया उसने। निर्धनों के घर में रोटी मीठी लगी, तो श्रीमानों ने पूरी, पूष, पिष्टक, हलुवा और मोदकों का आनन्द उठाया।

आटे का वह नवीन भोग देव-भोग में सम्मिलित होकर अर-ण्य में गुरुदेव के समीप जा पहुँचा। प्रस्तर की प्रतिमाओं ने जैसे भी उसे चखा हो, गुरुदेव विमोहित हो गये उस पर। परन्तु आश्चर्य और जिज्ञासा गुरुदेव के अलंकार नहीं हैं, इसलिए वह उस नये स्वाद को बाणी-विहीन के गुड़ की भाँति समझ-समझकर चुप ही रह गये। वह नवीन स्वाद चेलों से छिपा दिया।

परन्तु बात छिपनेवाली न थी। शीघ्र ही नगर और कहीं-कहीं ग्रामों में भी शिष्यों को भिन्ना में आटा मिलने लगा। आश्रम में भी गेटी बनी। शिष्यगणों ने गुरुदेव को पहला रोटी समर्पित की।

“स्वादु है।” गुरुदेव ने कहा—“पर इससे भी अधिक स्वादु देवगण खाते हैं।” उनके मन में राजभवन का पक्वान्न घूम रहा था।

शिष्यों ने भी देखा रोटी को। उसके माधुर्य को बार-बार सराहा।

“कैसी अद्भुत नवीनता समावेशित हो गई है हमारे नगरों में। बाहरी उपकरणों में ही, अब यह हमारे शरीर के भीतर भोजन में भी समाविष्ट हो गयी।”

“सब माया है।”—गुरुदेव ने कहा।

“भगवान को भी तो भोग लगता है महाराज!”—एक चले ने डरते हुए कहा।

“कलाकार ने जब उनके मुख और उदर को अभिव्यक्ति दी है, तब उन्हें भोग न लगाना उपासक की अपूर्णता न हो जायगी ?”—गुरुदेव बोले ।

दूसरा शिष्य बोला—“यह सब माया उसी दम्पति ने फैलायी है महाराज, आपकी गुरुता ने जिसे यहाँ से भगा दिया था ।”

गुरुदेव ने हंसकर कहा—“मुझे ज्ञात है ।”

तीसरा शिष्य बोला—“महाराज, यह आटा बनता किस वस्तु से है ?”

एक अन्य शिष्य ने कहा—“आटे के व्यवसायी कहते तो कुछ और हैं अनभिज्ञों से द्रव्य खसोटने के लिए, पर मुझे रहस्य ज्ञात है । दो पत्थर के चक्कों के बीच में गेहूँ का दाना घुमा दिया जाता है और वह पिसकर आटा हो जाता है ।”

कई शिष्य बोले—“महाराज हमारे आश्रम में भी वह चक्की चलनी चाहिए । भिक्षा में सभी तो हमें आटा नहीं देते हैं । अधिकांश गेहूँ ही मिलता है । चक्की हो जायगी, तो हम स्वयं अपने हाथों से उसे पीस लेंगे । नहीं तो महाराज, अब यह उबाला हुआ गेहूँ हमारे उदरों में पीड़ा उपजा देगा ।”

गुरुदेव कुछ सोच-विचार में पड़ गये ।

एक दूसरा शिष्य बोल उठा—“गुरुदेव के लिए कोई चिता का अवसर नहीं है । मैं चक्की को देख आया हूँ । नगर में मैंने उसका सारा रहस्य समझ लिया । है ही क्या उसमें ? मैं एक-दो दिन में ही बनाकर रख दूँगा उसे ।”

गुरुदेव की आज्ञा लेकर शिष्य अपनी योजना में दत्तचित्त हुआ और उसने अरण्य के पत्थरों को छीलना आरंभ किया । चक्की की गोलाई को परिपूर्णता दी गुरुदेव ने । उन्होंने एक यज्ञ-सूत्र लेकर उसका एक सिरा पत्थर के ऊपर अँगूठे से दबाया और दूसरे सिरे पर हवन-कुंड का एक कोयला रख घुमा दिया । पत्थर पर निर्दोष वृत्त अंकित हो गया । शिष्य ने दोनों पाट काट लिये ।

एक कीली और एक मूँठ लगते कोई विलंब न लगा । चक्की प्रभुत हो गयी और वह अरण्य उसके सुमधुर षडज स्वर से निनादित हो उठा ।

शिष्यों ने गेहूँ पीस डाला। आटा बन गया। उस आटे का नगर के आटे से मिलान किया गया। कोई विभिन्नता नहीं दिखाई पड़ी।

वह आटा साना गया, उसकी रोटी बनायी गयी। उसे सबने चखा। उसमें भी कुछ अंतर नहीं मिला। सारा अरण्य हर्ष से प्रतिध्वनित हो गया। नगर का सुरक्षित यह भेद जाकर खुल पड़ा अरण्य में।

शिष्यगण चिल्लाये—“आटा, केवल पिसे हुए गेहूँ का दाना है, जिसे केवल कृषक के परिश्रम ने उपजाया है। अधिक दिनों तक अब नागरिक, ग्राम और अरण्य को अपनी प्रतारणा में न रख सकेंगे।”

शिष्यों ने यह भेद जाकर समस्त ग्रामों में खोल दिया—“हे भोले-भाले ग्रामवासियो! आटे में और कोई भी मिलावट नहीं है। वह केवल तुम्हारे ही शुद्ध अम का दाना है। नागरिकों ने उसे दो चक्रों में घुमाकर पीस मात्र दिया है। तुम्हारी ही लपज का आटा बनाकर तुम्हारे ही हाथ दूने-चौगुने दामों में बेच रहे हैं। अतः जागो, अपने को पहचानो और अपनी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करो।”

वे अपने साथ अपने हाथ की बनायी हुई चक्की को भी प्रचार के लिए ले गये। उन्होंने उसे प्रदर्शित कर कहा—“यही वह चक्की है। किसी पत्थर में से काटकर सहज ही बना ली जा सकती है। गेहूँ और आटे के बीच में यही दो पत्थर हैं। मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह छल-कपट सहन नहीं हो सका गुरुदेव को; इसलिए उन्होंने हमें तुम्हारा भ्रम दूर करने को यहाँ भेजा है।”

ग्रामवासियों ने पहले तो उनकी बातों को ध्यान से नहीं सुना; पर जब उन्होंने गुरुदेव की दुहाई दी, तब उनका विश्वास जाग उठा।

चक्की में गेहूँ पीसे गये। उस आटे की रोटियाँ बनीं। गाँव के बड़े-बूढ़े सबने उन्हें चखकर अंत में यही निर्णय किया कि आटे का वस्तुतः यही रहस्य है।

फिर क्या था ? ग्रामवासियों ने भी चक्कियाँ बना लीं। ग्रामों में भी चक्कियाँ चल पड़ीं, उन लोगों को आटा वहीं उपलब्ध होने लगा और नगर से उनका आटा मोल लेना बंद हो गया।

नगर के श्रेष्ठियों में हलचल मच गयी। नगर और ग्राम के बीच में कलह का बीज पड़ गया। अरण्य के शिष्यों में प्रसन्नता छा गयी,

आटे के सस्ते हो जाने से उन्हें पिसा-पिसाया गोहूँ भिन्ना में मिलने लगा और उन्हें राटो के नवीन स्वाद के लिए चक्की चलाने का परिश्रम करना न पड़ा ।

नगर के श्रेष्ठियों का एक व्यवसाय हाथ से छुट गया । इसका एक विशेष कारण जब उन्होंने गुरुदेव को समझा, तब अरण्य और नगर के बीच में भी विद्वेष बढ़ने लगा । नगरों के श्रेष्ठियों ने वरद के सभापतित्व में एक सभा की ।

पहला श्रेष्ठी बोला—“भाइयो, बहुत दिन तक हमने इस अरण्य-वासी गुरुदेव की जय पुकारी । हमने समझा कि था हम इसकी मंगल-कामना से सुखी हैं । हम बराबर इसके बनाये हुए देवताओं को हाथ जोड़ते रहे, इसका पूजा में भाग लेते रहे और इसके चेलों की भोलियाँ अपनी भिन्ना से भारी करते रहे । समय ने इसकी पोल खोल दी है । इसने बिना परिश्रम किये मौज उड़ाने का यह ढोंग बना रक्खा है । इसके देवता झूठे हैं, यह झूठा है । हम इसके आशीर्वाद से जीवित नहीं हैं । हम अपने कर्मों से ही खड़े हैं ; जब हमारे ऊपर संकट आते हैं, तब यह बचा नहीं सकता हमें । इसलिए हमको सावधान होकर समझ लेना चाहिए और अब इसके फेर में नहीं पड़ना चाहिए । अब हमें इसकी पूजा में सम्मिलित होना छोड़ देना होगा । न अब हम इसकी जय पुकारेंगे और न इसके चेलों को भीख ही देंगे ।”

दूसरे श्रेष्ठी ने कहा—“मेरे पहले भाई की बात अच्छरशः ठीक है । बहुत दिन तक मैं समझता था कि इस प्रदेश के सभी निवासियों पर गुरुदेव की समदृष्टि है ; वह राजा-रंक सभी का एक समान भाव से हित चाहते हैं । मैं उन्हें एक त्यागी और निरंतर समस्त देश के लिए शंख-घंट बजाकर भगवान से प्रार्थना करनेवाला समझता था । गुरुदेव के विरुद्ध हमने इधर कई बातें सुनी हैं । उन्होंने ग्रामों में हमारे प्रति भयानक विद्वेष प्रचारित किया है । अपनी इस विषम दृष्टि से वह हमारी दृष्टियों में भी गिर गये ।”

तीसरा श्रेष्ठी बोला—“उसका पूजा-पाठ सब पाखंड है । उसने ऊँच-नीच और जाति-भेद फैलाया है । भगवान का रूप-रंग पत्थरों में नहीं अंकित किया जा सकता, न किसी मंदिर में ही उसे किसी को बंद कर

चक्रकांत

सकने का अधिकार है। वह सर्वत्र व्याप्त है। आज हमें यह निश्चय करना होगा, प्रतिज्ञा करनी होगी कि उस गुरुदेव के जाल में अधिक दिन तक जकड़े न रहेंगे। अब न उसे नगरों से कोई सहायता मिलेगी, न हम सपरिवार जाकर उसकी पूजा-अर्चनाओं में ही सम्मिलित होंगे।”

इसके पश्चात् जिस श्रेष्ठी ने भी उस सभा में मुख खोला, गुरुदेव के विरुद्ध विष ही वमन किया।

चक्रकांत भी उस सभा में विशेष रूप से आमंत्रित था। उससे भी बोलने का आग्रह किया गया, तो उसने कहा—“मैं इस देश में एक विदेशी ही हूँ और जब तक निरंतर निवास से मेरी प्रकृति यहाँ की-सी नहीं बन जाती, तब तक मुझे यहाँ के सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों पर कोई अभिमत प्रकट करना उचित नहीं है। मैं गुरुदेव का नाम लेकर ही इस नगर में प्रविष्ट हुआ हूँ। मैं नहीं जानता हूँ कि गुरुदेव के क्या गुण हैं और क्या अवगुण हैं। एक ही बात जानूँ मुझे इस सभा में अनुचित जान पड़ती है, वह है इस सभा में गुरुदेव या उनके प्रतिनिधि का अभाव। इस प्रकार बिना विरोधी पक्ष की उपस्थिति के आपका उनपर दोषारोपण करना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। उनके पक्ष की बातें सुनकर ही आपको कोई निश्चय करना चाहिए।”

एक श्रेष्ठी बोला—“सभा कोई निश्चय करे, या न करे, मैं व्यक्तिगत रूप से अपनी स्वतंत्रता रखता हूँ। मैं तो न दूँगा अब भीख उन निठल्लों को।”

दूसरा भी कहने लगा—“और मैं भी नहीं दूँगा। क्यों दूँ ? क्या हित साधते हैं वे प्रजा का ?”

और भी बहुतों ने यही कहा। अंत में सब श्रेष्ठी वरद का भाषण सुनने को व्यवस्थित हो गये।

खाँसकर वरद ने कहा—“एक परंपरा से हमने गुरुदेव की पूजा की है, उनके उपदेशों पर व्यवहार किया है और उनकी पद्धति पर विश्वास। परंपरा अनेक युगों का निर्माण है।”

सभास्थल से एक ने कहा—“वह एक ही दिन में तोड़ दी जायगी।”

हसकर वरद बोला—“नहीं, एक दिन में तो नहीं तोड़ दी जा सकती। यदि वह निबेल और जाएँ हो गयी होगी, तो बिना हमारे परिश्रम के स्वयं ही भूमिसात् हो जायगी। चक्रकांत एक विवेकशील व्यक्ति हैं। उनके चक्रों से हमने भाँति-भाँति के लाभ उठाये हैं। उन्होंने हमारा व्यवसाय ही नहीं, हमारे रहन-सहन एवं सुख-सुविधा का भी उन्नत किया है। वह हमारे हितचिंतक हैं, इस बात पर हममें से किसी को भी मतभेद नहीं है।”

फिर कोई बोला—“इसलिए ‘गुरुदेव की जय’ के बदले अब हम ‘चक्र की जय’ कहेंगे।”

चक्रकांत ने कहा —“गुरुदेव का अपना स्थान है और चक्र का अपना।”

बहुत-से न माने। वे बोल ही उठे—“चक्र की जय!”

वरद ने कहा—“अतः हमें चक्रकांत की सम्मति का आदर करना चाहिए। अरण्य हमारे ही देश का एक भाग है। उसने चारों ओर से घेरकर हमारी रक्षा कर रखी है। बिना अच्छी तरह अनुसंधान किये हमें उसके प्रति विरोध जगाना उचित नहीं है।”

सभा भंग हो गयी। उसमें कोई निश्चय न हुआ सामूहिक रूप से, पर व्यक्तिगत रूप से अनेक नागरिकों की श्रद्धा कुंठित हो ली अरण्य के लिए।

चार

दूर-घर रोटी फैल गयी—वज्रांक के चारों भागों में। रोटी के स्वाद ने सबके विचार बदल दिये। संक्रांति स्पष्टतया परिलक्षित होने लगी। बड़े-बूढ़े कहने लगे—“कैसा समय आ गया और यह सब चक्र का ही प्रभाव है। इस चक्री ने जब से यहाँ अपने श्रीचरण रखे, तभी से यह हुआ। कैसा युग था वह पहला, समस्त प्रजा पारस्परिक सद्भाव से रहती थी, कोई वर्ग-भेद न था। न कोई अपने को बड़ा समझता था,

चक्रकांत

न छोटा । राजा का भय मानते थे सब और गुरुदेव के प्रति आदर था सबको ।”

पर वह बकवादी बूढ़ों की पीढ़ी अधिक दिन तक जीवित न रहेगी । उनके छँट जाने पर राष्ट्र के बीच से वह विचार-धारा तिरोहित हो जायगी एक दिन ।

“भिच्चा दो ।”—एक चले ने एक नागरिक के द्वार पर जाकर शब्द जगाया ।

“जा-जा, चला जा, परिश्रम करना सीख ।”—भीतर से शब्द सुनाई दिये ।

ऐसे उत्तर का अभ्यस्त न था वह शिष्य । गृहस्थ की शंका दूर करने के लिए उसने कहा—“मैं अरण्यवासी हूँ । भिच्चा को आया हूँ ।”

“मैंने पहचानकर ही तो तुम्हें परिश्रम करने का उपदेश दिया है ।”

“महाराज के कर्मचारी जब अपना राजस्व प्राप्त करने आवेंगे तब उन्हें भी क्या तुम यही उपदेश दोगे ?”

“महाराज की संरक्षा के लिए अपेक्षित है वह ।”

“और गुरुदेव के आशीर्वाद क्या तुम्हारे कवच नहीं हैं ?”

“हाँ, उन आशीर्वादों का ढिंढोरा तुम ग्राम के पथों में पीट चुके हो । नगर में तुम्हारी सारी लीला खुल चुकी है । बिना परिश्रम किये नगर में न भर सकेंगी अब तुम्हारी भोलियाँ ।”

“अरण्य से नगर तक, शीत और घाम में तुम्हारे द्वार तक फेरी लगाते हैं । और कैसा परिश्रम चाहिए तुम्हें ?”—शिष्य ने कहा ।

“अधिक बक-बक मत करो । हमारे अनेक उत्तरदायित्व हैं, हमारा समय नष्ट न करो । भिच्चा के नाम पर अब हम कदापि तुम्हारा उत्साह नहीं बढ़ायेंगे । कह दिया हमने ।”

“लौट जाऊँ विमुख होकर ?”—ताड़ना दिखाते हुए शिष्य ने कहा ।

“हाँ हाँ, अवश्यमेव, यदि अपने समय के सदुपयोग करने की इच्छा है तो ।”

पहली बार विमुख होकर याचक लौट गया । नगर में और भी अनेक स्थानों में उसको ऐसा ही सत्कार प्राप्त हुआ आज । उसे ही नहीं, उसके अनेक साथियों को भी ।

चक्रकांत को विदेशी समझकर शिष्य आज तक कभी उसके द्वार पर भिक्षा के लिए नहीं गया था। आज रिक्त भोला ले अरण्य की ओर लौटते हुए उसे चक्रकांत की अट्टालिका का विमुक्त द्वार दिखाई दिया। उसने उस द्वार पर जाकर पुकारा—“भिक्षा दो।”

एक दासी मेखला की बेणा गूँथ रही थी। मेखला ने द्वार पर के उस नवीन शब्द पर दासी से जिज्ञासा की।

दासी ने उत्तर दिया—“अग्न्यवासी है, भीख माँगने आया है।”

“आज तक कभी नहीं आया? आज ही यह नवीन आरंभ है।”—मेखला ने दर्पण में अपने सवारे गगन रूप का निहारा।

वज्रांक की वेश-भूषा धीरे-धीरे उसके रूप में समाविष्ट होने लग गयी थी। सिर नंगा पहले भी रखती थी वह, अब भी। कचावलियों में अब उसके रस-सुवर्ण और मुक्तामल प्रथित होने लगे थे। प्रकश में प्रतिफलित गौण की किनारी और फूलों से अंकित साड़ी बाँध रक्खी थी उसने, कटिप्रदेश पर नहीं स्तनों के ऊपर। गले में रत्नहार, भुजाओं में भुजबंध, कंकण-वलय, मुद्रिकाएं सभी कुछ सहजप्राप्य थे उसे। आभरित कटिबंध ने उसकी कटि की प्राकृतिक रेखा को प्रकट कर रक्खा था, जितकी अंतरित लड़ियाँ उसकी जंघाओं पर उसकी गतिभंगिमा पर नृत्य कर रही थीं। उसके सिंजित चरण पुष्पकमल कक्ष के अस्सनों पर अपनी चापों से मधुर रागिनियाँ निकाल रहे थे।

फिर बाहर से ध्वनि आयी—“हे माता, भिक्षा दो।”

अपने ही रूप की गहराई में खायी हुई मेखला विचलित हुई। उसने अपने प्रतिबिंब पर से दृष्टि हटाकर दामी पर निक्षेप की।

“स्वामिनी, मैं जाकर कह आती हूँ उससे कि चला जाय।”—दासी ने हाथ जोड़कर कहा।

“नहीं, ऐसी आवश्यकता क्यों? जब द्वार पर आकर वह माँग रहा है और हमारी आवश्यकताओं से अधिक हमारे पास है, तब क्यों न हम उसे कुछ दे दें।”—मेखला बोली।

“जब इनके भूव लाती है, तब य क्यों नहीं अरण्य में बीज बोते? आपको कश्चित् ज्ञान नहीं है। नागरिकों ने अपने अन्नदान से अब इनकी मांसलता न बढ़ाने का शपथ ली है।”—दासी बोली।

“मैंने तो नहीं ली है।”—हँस उठी मेखला। उसने अपने वस्त्र से लिपटा एक डोरा निकालकर दासी को फेंक देने को दिया।

“केवल पंगु का ही समाज भार सहन कर सकता है। सशक्त और पूर्णांग व्यक्तियों का भरण दानशीलता नहीं हो सकती।” दासी बोली।

“जब कोई मॉग रहा है! यह अहंकार-पंगुता क्या पंगुता नहीं है? मैं स्वयं उसे भिक्षा अपने हाथों से दूँगा। गुरुदेव का अरण्य मेरे हृदय में न जाने क्यों बस गया है। मैं उस मंदिर-वर्दिनी प्रतिमा को देखना चाहती हूँ, लेकिन चक्रकांत को रथ-बंजर बनाने का अवकाश ही नहीं मिला है अब तक। पहली भिक्षा मेवों की दूँगी। दासी, जा; द्राक्षा की टोकरी उठा ला।”

मुँह बनाती हुई दासी चली और हाथों के सरणियों पर सायात बजाती हुई मेखला अट्टालिका से नीचे उतर प्रवेश-द्वार पर आ गयी।

द्वारपाल की विवर्जना पर निरवधान होकर भिक्षु उसकी ओर पीठ कर सांपान पर बैठ गया था, आसनविहीन और नंगे पैर। दृष्टि फिराकर ही द्वारपाल से कह रहा था—“तुम केवल द्वारपाल हो। गृह-स्वामिनी यदि भिक्षा न देंगी, तो कुछ तो प्रत्यक्ष व्रथा में देना ही पड़ेगा उन्हें।”

अंकारवाहिनी चापों ने मेखला के आगमन का संकेत दिया। प्रहरी एक ओर संकुचित होकर खड़ा हो गया। अपने प्रत्युत्तर को ओष्ठाधरों की संधि में विलीन कर लिया उसने।

भिक्षु भी तुरंत उठ सामने मुँह कर खड़ा हो गया। उस नव शृंगारित लावण्य को हाथ जोड़कर उसने कहा—“गुरुदेव की जय!”

“दाता की जय क्यों नहीं भिक्षु?”

“गुरुदेव ही तो दाता हैं। उन्हीं के नाम पर हमारी भोली भरती है।”

“यदि मैं अपने अंग पर के ये सब आभूषण खोलकर तुम्हारी भोली में भर दूँ, तो ?”

“प्रभाव तब भी गुरुदेव का ही रहा। सुंदरी, आप केवल एक निमित्तमात्र रहेंगी।”

इस रूखे और कृतज्ञताविहीन उत्तर से प्रहरी की उत्तेजना बढ़ गयी। वह स्तब्ध न रह सका—“जा, जा, अब न जाग सकेगी यह गुरुदेव की जय इस नागरिकता के बीच में।”

चिंता के साथ मेखला ने पूछा—“क्यों प्रहरी! क्या कोई ऐसी राजाज्ञा प्रचारित हुई है? मैंने तो नहीं सुनी।”

“श्रेष्ठी एकमत तो हुए हैं इसपर।”—द्वारपाल बोला।

“केवल एक अभिमत, जिसका कोई निश्चय नहीं।”—मेखला ने कहा।

अरण्यवासी ने चिंता के साथ यह सब सुना।

मेखला ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—“दासी लोभ में पड़ गयी, इसी से उसकी गति में विलंब उपज गया। मैं तुम्हारी भिक्षा पूर्ण करने के लिए निश्चयमति होकर आयी हूँ।”

वह दासी को पुकारना ही चाहती थी कि वह आती हुई दिखायी पड़ गयी। उसे रिक्त हाथ पाकर मेखला रिस में भर उठी।

“द्राक्षा की टोकरी न जाने कहाँ दबी पड़ गयी है।”—दासी ने विनीत होकर कहा।

“मेरे दान की इच्छा तो सर्वोपरि है। प्रहरी, जाओ, तुम जाकर इसे सहायता दो।”—मेखला बोली।

दोनों चले गये।

अरण्यवासी उस नयी दात्री को विस्मय और संकोच की भारी पलकों से देखने लगा।

मेखला कहने लगी—“गुरुदेव ने तुम्हें माँगना क्यों सिखा दिया?”

“भिक्षा के अन्न की पवित्रता के लिए।”

“पवित्रता?” हँसने लगी मेखला—“उसमें बोन-लवाने का परिश्रम नहीं है, न सिंचन की आकुलता और न उसके फूलने-फलने तक की प्रतीक्षा। एक सहज उपलब्धि का नाम ही पवित्रता है क्या?”

“नहीं स्वामिनी, हल चलाने से भूमि पर के अनेक जीवों की हत्या होती है। इसी से कृषि हमारे लिए त्याज्य है।”

“परंतु मैंने तो सुना है, प्रत्येक वर्ष जब गेहूँ की खेती आरंभ

होती है, तब गुरुदेव मंदिर में नरबलि देते हैं। मनुष्य का रक्त गेहूँ के बीजों पर छिड़का जाता है और दो-दो, चार-चार दाने प्रत्येक कृषक ले जाकर अपने बीजों में मिलाता है। यह कैसी पवित्र हिंसा है ?”

अरण्यवासी बोला—“पहले ऐसा कुछ होता होगा।”

“अब नहीं होता ?”

“जब कभी अवर्षण से अकाल का भय स्पष्ट हो उठता होगा, केवल तभी।”

सर से पैर तक सिहर उठी मेखला—“कौन देता है बलि ?”

“सत्यं गुरुदेव !”

“किसकी ?”

“अपने सबसे प्रिय शिष्य की।”

“तब तुम गुरुदेव की अप्रियता साधते होवोगे निरंतर। कैसे ? उनकी अवमानता से, अभक्ति से ?”

“नहीं। शिष्यों का समुदाय मंदिर के चारों ओर खड़ा किया जाता है। मंदिर के भीतर गुरुदेव पूजा करते हैं। फिर महाराज उनका आँखों में पट्टी बाँधकर उन्हें मंदिर के बाहर लाते हैं और उन्हें बिना किसी मार्गदर्शक के मंदिर की तीन परिक्रमा करनी पड़ती है। इसके पश्चात् वह जिस शिष्य का हाथ पकड़ लें, उसे बलि के लिए अभिषिक्त होना पड़ता है।”

“और फिर भी गुरुदेव के आश्रमों में शिष्यों की भीड़ है !”—
मेखला ने आश्चर्य प्रकट किया।

“मृत्यु से निरापद स्थान कौन है ? गुरुदेव के हाथ से पायी हुई मृत्यु को हम वरदान समझते हैं।”

“तुमने देखी कभी नर-बलि ?”

“नहीं। सुनता हूँ, अब न दी जायगी वह।”

“क्या ?”

“गुरुदेव और महाराज ने निश्चय किया है ऐसा ही ; क्योंकि अब गेहूँ का दाना पीस दिया गया है और आपके पतिदेवता ने महाराज को यह आश्वासन दिया है कि वह कुँआरों में चक्र

लगाकर बैलों की सहायता से जल की अटूट धारा धरती पर बहा देंगे और अकाल पर जय प्राप्त करा देंगे इस प्रकार । इंद्र का विद्रोह चक्र द्वारा शांत कर दिया जा सकेगा । गुरुदेव के अधत्व पर शिष्यगण अपना मुंड निछावर करने से बच जायेंगे । यदि ऐसा हो गया, तो फिर निश्चय 'गुरुदेव की जय' का स्थान 'चक्रकांत की जय' क्यों न ले लेगी !"—शिष्य बोला ।

पति की जय के शब्द सुनकर मेखला आनन्द में भर गयी । वह अपने रत्नहार से खेल रही थी । उसने उसे गले से निकालकर मुट्ठी में भर लिया । उस अरण्यवासी ने भी नहीं देखा ।

द्राक्षा की टोकरी ले कर आ पहुँचा द्वारपाल दासी के साथ ।

"तुमने भी बड़ी देर लगायी ।" मेखला ने याचक की ओर दृष्टि की—“लो यह टाकरी ही उठा ले जाओ ।”

“नहीं केवल भोली ही भर ले जाने की आज्ञा है ; वह भी एक ही परिवार से नहीं, कई स्थानों में ।”

“तुम्हारी भोली रिक्त है । अभी और कहीं नहीं गये ?”

“गया तो हूँ, पर भीख मिली नहीं ।”

“तब आज केवल मैं ही भर दूँगी इसे अपने हाथों से !”—कहकर मेखला ने अपनी मुट्ठी टाकरी में डाल दी और अंजली भर-भर कर द्राक्षा से उसकी भोली परिपूर्ण कर दी ।

अरण्यवासी ने सकृद्वर दृष्टि से उस दयामयी को निहारा । आज अन्य गृहस्थों की विरक्ति पर एक ही परिवार से परिपूर्ण हो गया वह और उस अपवाद की भरी भोली को लुटकर चला गया ।

सब शिष्यों के आश्रम में लौट जाने पर गुरुदेव ने कहा—“नगर से लौटती हुई ये रिक्त भोलियाँ क्या हैं ?”

“नगर अरण्य के विरुद्ध हो गया गुरुदेव ।”

“मैं जान गया था इस बात का । यह चक्र ही इसके मूल कारण में है । अभी तो नगर और अरण्य के ही बीच में यह विद्वेष फैला है, यह फूलेगा और फलेगा अभी चारों विभागों के बीच में ; यही नहीं, घर-घर और मनुष्य-मनुष्य के मध्य में भी । भिक्षा क्यों नहीं दी उन्होंने ?”

चक्रकांत

“कहते हैं, परिश्रम करो ।”—एक शिष्य बोला ।

“कहते हैं, तुम हमारी जड़ खोदो और हम तुम्हारा पालन करें ।”
—दूसरे ने कहा ।

“क्या होगा अब गुरुदेव !”—तीसरे ने पूछा ।

“क्या चिंता है अभी । पालन-पाषणकर्त्ता केवल शक्ति माता है ।
अभी महाराज और कृषक हमारे मित्र हैं । इन नागरिकों का क्या
अस्तित्व है ! ये जीवन के लिए कृषक के ही मुखापेक्षी हैं ।”—गुरुदेव
ने कहा ।

शिष्य ने सूखी हुई द्राक्षा की भरी भोली गुरुदेव के आगे बढ़ायी ।

“यही भरी भोली अवश्य मेरा आश्चर्य बढ़ाती है । कहाँ
से भर लाये इसे ?”

“चक्रकांत के गृह से । उसकी पत्नी बड़ी दयावती जान पड़ती है ।
उसी ने अपने हाथों से भरा इसे ।”—शिष्य ने उत्तर दिया ।

“कैसे आश्चर्य का विषय है ! जो तुम्हारी भोलियों के रिक्तत्व
के लिए उत्तरदायी है, उसी के यहाँ से यह भरी गयी है ।”—गुरुदेव
ने कहा ।

“साधारण अन्न से नहीं, यह द्राक्षा से भरी हुई है ।”—शिष्य बोला ।

गुरुदेव ने अपनी स्मृति में गड़े हुए उन दो विदेशियों के वज्रांक-
प्रवेश को देखा । मेखला की रूप-रेखा अधिक स्पष्ट थी । वह सोचने
लगे—“यदि उस दिन इन दोनों को आश्रम में विमुक्त रखकर भी रोक
लेता, तो कदाचित् वज्रांक में यह मर्ताभन्नता न फैलती ।”

पर संक्रांति किसी के वश में है, क्या ? वह प्रकृति का एक चक्कर
है जो अपने मन से चलता है । वह ध्वसों पर निर्माण और निर्माणों
पर विध्वंस रचता हुआ चला जाता है । कौन उसका चालक है और
कौन उसे रोक सकता है ?

शिष्य कहने लगा—“माता के प्रसाद के लिए यह भोली मंदिर
में रख आऊँ ?”

“हाँ, मैं स्वयं वहाँ जाता हूँ आरती के लिए । मैं ही ले जाऊँगा ।”
—कहकर गुरुदेव स्नानानंतर उस भोली को लेकर मंदिर में चले गये ।
उन्होंने मंदिर के द्वार बंद कर दिये ।

अखंड प्रदीप जल रहा था। उसकी शिखा पर फूल रच गये थे और प्रकाश कुछ मंद पड़ गया था। गुरुदेव ने एक तिनके से फूल तोड़कर गिरा दिया। शक्ति-माता की प्रतिमा उदीप्त प्रकाश में चमक उठी!

गुरुदेव ने हाथ जोड़कर धीरे से कहा—“हे माता! तुम्हारी क्या इच्छा है? चक्र ने नगरों में संक्रमित होकर उनकी श्री-संपत्ति बढ़ा दी है। और इस नवीन तुलना में ग्राम अपना संतुलन खोकर श्रीविहीन होते जायँगे क्या? महाराज नगरों का ही साथ देंगे। उनकी सत्ता श्री पर ही स्थापित है। क्या ऐसा ही होगा, सच?” गुरुदेव भावातिरेक में आये। उन्होंने उच्च स्वर में कहा—“और हे पाषाणी! तब भी तुम्हारे ये चारों हाथ और उनके आयुध केवल प्रदर्शन की वस्तु होकर ही रह जायँगे?”

गुरुदेव एक बड़ी थाली में द्राक्षा की भोली उलटते हुए कहने लगे—“यह मेखला की सूचना है कि वह हमारी सहायता को कटिबद्ध रहेगी। उस दिन यहाँ उसका मन लग गया था, पर चक्रकांत उसे बलात् खींच ले गया। आज वह भिक्षा देते समय घर पर न होगा।”

भक्तभनाता हुआ रत्नहार थाली में गिर पड़ा द्राक्षा के साथ। कानों ने विस्मय दिया और थाली पर प्रतिफलित प्रकाश ने उनके हाथ अपनी ओर खींच लिये।

रत्नहार हाथों में उठाकर गुरुदेव बोले—“क्या है यह? रत्नहार मेखला की असावधानी से भोली में गिर पड़ा? शिष्य ने भी नहीं देखा? नहीं, इतनी बहुमूल्य वस्तु ऐसी असावधानी के लिए नहीं बनी है। अवश्य जान-बूझकर ही मेखला ने इसे भिक्षा में सम्मिलित किया है। फिर क्या? उसने शिष्य से यह भेद छिपाकर रक्खा? हाँ, छिपाकर हाँ। शिष्य पर यदि यह अघात होता, तो सब से पहले इसका उल्लेख करता।”

हाथों में हार को लिये-लिये देखते ही रह गये कुछ क्षण गुरुदेव। फिर बोले—“मेखले! क्या इच्छा है तेरी? इस मंदिर की एकान्त और अखंड ज्योति में विच्छिन्नता उत्पन्न कर देना चाहता है क्या तू? गुरुदेव की दुर्बलता पर आघात करेगी क्या? अभी लौटा दूँगा मैं इस आभूषण को उसी शिष्य के हाथ। हमारी भिक्षा में कनक निषिद्ध है।”

गुरुदेव उठे। पाषाण की प्रतिमा ने उनकी दृष्टि खींच ली। उनके निश्चय में बाधा पड़ गयी। वे प्रतिमा से कहने लगे—
“माता! सब तेरी इच्छा है। इस ज़िपाये गये भेद को नहीं खोलूंगा। तेरे चरणों की धूलि से संसार के सारे कलुष माँज लिये जा सकते हैं। तेरी सन्निधि में सारी पाप-भावनाएँ उज्ज्वल हो उठती हैं। ले, इस रहस्य की अपवित्रता नष्ट कर दे।” गुरुदेव ने वह द्वार प्रतिमा के गले में पहना दिया। प्रतिमा जगमगा उठी!

“महाराज की भेंट में भी कभी इतनी उदारता नहीं देखी गयी। अखंड दीप अनेक शिवाग्रों में प्रतिकलित होने लगा। ऐसी ही तेरी कामना है।”—कड़कर गुरुदेव द्वार के पास गये। उन्होंने द्राक्षा की रिक भोली उठा ली थी। कुछ सोचकर स्थगित हुए। अन्त में द्वार खोल दिया।

शिष्यगणों ने मन्दिर को चारों ओर से घेर लिया था। वे सब गुरुदेव के अप्रत्यक्षित विलम्ब पर आश्चर्य कर रहे थे। नियम तोड़कर द्वार पहली बार परम्परा के विरुद्ध खुल पड़ा। शिष्यगण कानाफूसी करने लगे।

गुरुदेव ने कहा—“कोई व्यतिक्रम न हो। सब अपने ही अपने स्थानों पर दृढसंकल्प रहो। द्राक्षा कौन लाया है? मेरे पास भेजो।” गुरुदेव कुछ पग भीतर प्रविष्ट हो गये।

शिष्य ने मन्दिर में पदार्पण किया।

“लो यह तुम्हारी भोली है।”

शिष्य ने भोली ग्रहण की।

“द्राक्षा किसने रखे भोली में?”—उन्होंने पूछा।

“स्वयं मेखला ने।”

“कुछ और भी था इसमें?”

“नहीं गुरुदेव!”

“क्या कहा था उसने?”

“कहती क्या? उसकी मुखाकृति से जान पड़ता था कि अतिथि को द्वारविमुख करना उसने नहीं सीखा है।” शिष्य को कुछ स्मरण हुआ—“हाँ, चलते-चलते यह कहा था, यह भेंट सीधे गुरुदेव को ही समर्पित करना।”

“हूँ ।” —समझकर गुरुदेव ने कहा—“अच्छा, जाओ ।”

शिष्य निष्कांत हुआ और गुरुदेव ने फिर द्वार ढक लिए । उन्होंने द्रुतगति से मंत्र-पाठ और पूजा करनी आरम्भ की । आरती जलाकर देवी की आरती करने लगे, पर मंत्र के स्थान में कहने लगे—“हे अतुल पराक्रमे, खल-दल-विनाशिनि ! नागरिकों ने भिक्षा न देना निश्चित कर लिया । तेरी शक्ति-पूजा का वार्षिकोत्सव निकट आ रहा है । यदि उन्होंने उसमें भी सहयोग देना अस्वीकार कर दिया, तो ?... इस अस्वीकृति पर बचकर कहाँ जायेंगे वे ?”

आरती हाने लगी । बाहर से भी शिष्यों ने मंदिर की परिक्रमा में लटकती हुई घंटियाँ बजानी आरम्भ कीं । तुमुल नाद में कदाचित् आज वह उत्साह नहीं था । शिष्यों के मन में यह धुन घुस गयी थी कि अब नगर की स्वादु भिक्षा उनके हाथ से गयी ।

गुरुदेव ने द्वार खोला और परम्परा के विरुद्ध बन्द कर दिया तुरंत ही । शिष्यगण उनके मार्ग के दोनों पार्श्वों में उनकी अभ्यर्थना के लिए खड़े हो गये । गुरुदेव ने उनके बीच में प्रवेश किया । पुष्प-वर्षा हुई और प्रतिध्वनि जागा—“गुरुदेव की जय ।” पर नगर के ओर की प्रतिध्वनि कद्ती थी—“चक्रकांत की जय !” और संशय-भय संव्रस्त गुरुदेव के मानस में कोई पुकारतः था—“मेखला की जय !”

यज्ञशाला में सब शिष्यों को एकत्र कर गुरुदेव ने अपना आसन सँभाला और कदने लगे—“हमने नागरिकों का कुछ नहीं बिगाड़ा है । उनके मनों में कुमति घर कर गया है । आज उन्होंने सर्वप्रथम वनवासियों को विमुख किया है, अतिथि-धर्म की जड़ पर कुठार चलाया है । शिष्यगण ! यह तुम्हारा अपमान नहीं है, यह मेरा अपमान है । मेरा ही क्यों, यह साक्षत् माता का तिरस्कार है । और वह इनके अपराध क्षमा न कर जिस दिन हूँ कारित हो उठेगी, उस दिन फिर न चक्रकांत ही इनकी रक्षा कर सकगा, न उसके ये भिन्न-भिन्न रूप और प्रकार से संक्रमित चक्र ही । आज ‘ना’ कह देने से नागरिकों की श्री कलुषित हो गयी, उनकी जीवन की सार्थकता चली गयी ! कौन कहता है, चक्र उनकी आ-वृद्धि कर रहा है ? वह उनकी अशांति बढ़ा रहा है । जब तक किसान के मन में माता की भक्ति है, तब तक तुम्हें जाविका की

चक्रकांत

कोई चिंता नहीं है। मैं जानता हूँ, अतिथि का निरादर उसकी असह्य वेदना है! भगवान् उसका भला करे। उसका संपन्नता बढ़े, उसी पर तो वज्रांक का भरण-पोषण निर्भर है। याद नगर ने तुम्हारे लिए अपने द्वार बन्द कर लिये हैं, तां तुम भी उसके पथ पर काँटे डाल दो। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ, कल से कोई भी शिष्य नगर में भिक्षा के लिए न जा पायगा।”

द्राक्षा की भिक्षा पानेवाला शिष्य बोला—“गुरुदेव, मेखला ने तो तिरस्कार नहीं किया। उसके द्वार पर भी न जाना हागा क्या?”

गुरुदेव ने चिंता कर कहा—“इसका उत्तर फिर दूँगा।”

शिष्य बोला—“वह श्रद्धा रखता है।”

गुरुदेव—“यदि चक्रकांत न रखता हो, तो?”

शिष्य—“उसकी परीक्षा भी कर लेंगे।”

गुरुदेव ने कुछ देर विचारकर कहा “नहीं, उसके यहाँ भिक्षा के लिए न जाना हागा।”

शिष्य फिर कुछ और कहना चाहता था। गुरुदेव ने उसे मुख नहीं खोलने दिया।

वरद ने चक्रकांत से कहा—“ग्राम के साथ नगर का विग्रह बढ़ता जा रहा है। गुरुदेव ने भिक्षा के लिए अपने शिष्यों का नगर में भोजना बन्द कर दिया है और कृषकों ने अन्न।”

चक्रकांत हँसा—“अपनी इतनी आवश्यकताओं के लिए कहाँ जायँगे वे? कदाचित् गुरुदेव की भक्ति का प्रदर्शन है कृषकों की यह नीति, पर नगर के श्रेष्ठियों ने गेहूँ का मूल्य बढ़ा दिया है। द्रव्य के लालच पर किसान की सारी भक्ति डिग रही है। गुरुदेव के प्रति उनकी भक्ति और भी कम हो जायगी कालांतर में।”

“किस प्रकार मित्र?”—श्रेष्ठी ने पूछा।

“यह जो कूप में चक्र जंड़कर मैंने वृषभ की शक्ति से धरती पर जल की अटूट धारा बहा दी है।”—चक्रकांत ने उत्तर दिया।

“हाँSS!”—वरद सोचने लगा।

गुरुदेव नरमेध-जैसे भीषण कृत्य से छुट्टी पा जायँगे और कृषक अकाल के निराकरण के लिए अरण्य की ओर नहीं बढ़ेंगे।

वे कूप-चक्र के लिए नगर के द्वार खटखटायेंगे।”—चक्रकांत बोला।

श्रेष्ठ की समझ में बात आ गयी। वह कहने लगा—“नगर को अन्न देकर कृषक जायगा कहाँ ? बतन, कपड़े, चक्र और उनके उपकरणों के लिए उसे नगर की ही आरंभ करना पड़ता है। देशान्तरों के साथ वह नगर के व्यापार से ही संबद्ध है। उसके रोगों की औषधि और स्वास्थ्य के विलास की सामग्री भी तो उसे नगर ही देता है। इसके अतिरिक्त महाराज का राजस्व देने के लिए भी उसे द्रव्य ही चाहिए बिना नगर की भैत्री के कहाँ पायेगा द्रव्य ?”

“ठीक ही है यह बात।”

“फिर चक्रकांत के चक्र से उसने बहुत लाभ उठाया है।”

“अभी तो केवल एक चक्की ही उस मिली है।”

“यहां क्या कम है। मंदिर की प्रतिमा ने कदाचित् उसे इतने सुलभ आशीर्वाद नहीं दिये, जितने चक्र ने।”

चक्रकांत हँसने लगा।

“तुम्हारा आश्चर्य बढ़ेगा मित्र ! कई ग्रामों से मेरे पास समाचार आये हैं। अनेक कृषक प्रभात समय नहा-धोकर तुम्हारी चक्की पर गंधाक्षत चढ़ाते हैं और उसे सिर मुकाकर नमस्कार करते हैं।”

“आकार तो है उसका।”

“राटा भी तो देता है। उपासना के योग्य है कैसे नहीं। यह चक्र-पूजा यदि फैलती गयी, तो गुरुद्व का जय निःसंदेह इसमें खो जायगी।”

“मित्र, एक बात सूझ पड़नी है। ग्रामों को एक नवीन चक्र हम क्यों न भेंट में दें। इससे हमारी मित्रता का विकास होगा।”

“कौन-सा चक्र ?”

“क्रय-चक्र।”

श्रेष्ठी वरद ने चक्रकांत का हाथ पकड़ लिया—“नहीं मित्र यह नहीं अभी।”

“रथ बना दिया जाय ?”

“वह भी नहीं।”

चक्रकांत

“फिर जल-चक्र दे दें ? जल के वेग से उसका आटा पिस जाया करेगा । उसके श्रम की भारी बचत हो जायगी । भेंट में रहस्य पा जाने से वह फिर नगर की ओर विनत दृष्टि से ही देख सकेगा ।”

“दे देंगे इसे । परंतु यह भिक्षा की चुटकी की भाँति चुपचाप न दिया जायगा, कोई महत्त्व न रहेगा ऐसे । सारे राज्य में ढिंढोरा पीटकर एक उत्सव रचा जाय । उम उत्सव में जलचक्र का प्रदर्शन किया जाय ।”

“ठीक है । उत्सव कहाँ रचा जायगा ?”

“नगर में नहीं । ग्राम को ही विशेषता देना उचित होगा । कोई प्रमुख ग्राम चुन लिया जायगा । नृत्य और मनोरंजन की सज्जाएँ नगर से ले चलेंगे, और भी अपनी गरिमा का प्रदर्शन उन्हें दिखायेंगे । बड़े-बड़े बर्तन भी ले चलेंगे ; घी, मेवे और मिष्ठान्न भी ।”

“यह किसलिए ?”

“जलचक्र द्वारा जो आटा पीसा जायगा, उसका प्रसाद बनाकर ग्रामीणों को चखायेंगे कि हमारी वदान्यता उनकी नसों में गहरी घुस जाय ।”

“केवल देखना-सुनना ही क्या, कुछ पेट में भी भर जाना उचित है उत्सव की सार्थकता के लिए ।”—चक्रकांत ने स्मितानन से कहा ।

“चक्र का समर्पण वज्रांक की सुंदरियों की मुकुटमणि श्रीमती मेखला के कर-कमलों द्वारा किया जाय ।”—श्रेष्ठी ने प्रस्ताव किया ।

कुछ कृत्रिम रिस की रचना कर चक्रकांत बोला—“यह भी कोई बात है ! जल-चक्र का आविष्कार किया मैंने और दान देनेवाली हो गयी मेखला कैसे ?”

‘मित्र, तुमने कई बार मुझसे कहा है कि चक्र और मेखला का अविच्छिन्न संबंध है । कभी-कभी तो तुमने यहाँ तक कहा था कि मेखला ही चक्र की उद्भावना का रहस्य है—वह चक्र की परिधि पर है ।”

हँसा चक्रकांत—“अच्छा, इस प्रश्न पर भी मैं तुमसे सहमत हुआ । एक कारण और भी आ पड़ा है तुम्हारी इस इच्छा की पूर्ति का ।”

“कौन-सा ?”—वग्द ने पूछा ।

“आगामी अमावस्या को अरण्य में गुरुदेव के मंदिर में शक्ति-पूजा का वार्षिकोत्सव होगा ।”

“हाँ, और इस वर्ष अनेक नागरिकों ने निश्चय किया है कि उसमें योग न देंगे।”

“तोड़ सकेंगे वह इतने काल से चली आती परंपरा को?”

“उनकी स्त्रियाँ तो वहाँ पूजा भेजेंगी ही। अनेक स्वयं जायँगी, फिर उनके भग्न लेने का मूल्य ही क्या रहा?”

चक्रकांत ने पूछा—“अपनी कहो। तुम जाओगे?”

“पूजा तो अवश्य जायगी। यदि गृहिणी को वर्जित करूँगा, तो वह छिपाकर भेज देगी। आज तक सदैव ही उपस्थित होता रहा था मैं। गत वर्ष हम दोनों साथ-ही-साथ गये थे। देखा जायगा, जैसा अवसर होगा।”

“श्रीमती मेखला सबसे पहले जाने का निश्चय कर चुकी हैं। वह आज तक कभी नहीं गया है। नगर की अज स्त्रियाँ ने न जाने कैसा-कैसी अनोखी कथाएँ उनके कानों में भर दी हैं। उनका कौतूहल चरम सीमा पर पहुँच चुका है। मैंने अपनी आँखों देखी उस शक्ति-पूजा का जो वर्णन उन्हें सुनाया, उससे तृप्त नहीं हो सकती वह। शक्ति-पूजा में मंदिर के प्रागण में वह भूत-नृत्य ता बिलकुल नहीं सुहाया मुझे।”

“गुरुदेव तो बड़ा-बड़ा विवेचन देते हैं उसका।”

“छः! उस नृत्य की भयानकता और नग्नता तो कदापि गुरुदेव की सुरुचि का परिचायक नहीं। स्त्री-पुरुष दोनों का उसमें सहयोग यह उसकी निकृष्टतम बर्बरता है।”—चक्रकांत ने कहा।

“तुम्हारे देश में भी तो होते हैं ऐसे नृत्य।”

“मैंने तो नहीं देखे। नागरिक स्त्रियों को दर्शक होकर भी न जाना चाहिए वहाँ।”

“अपनी कहो। अपनी पत्नी मेखला को रोक सकोगे उत्सव में जाने से?”—वरद ने पूछा।

“क्यों नहीं?”—चक्रकांत पुकार उठा।

“बिना गृह-कलह उपजाये?”

“हाँ, हो!”

“कैसे?”—श्रेष्ठी ने पूछा।

चक्रकांत

“तुम्हारा प्रस्ताव बिल्कुल मेरी उसी चिंता का समाधान होकर प्रकट हुआ है।”

वरद अधिक मनोयोग से सुनने लगा।

चक्रकांत कहता जा रहा था—“यह जो चक्रोत्सव मनाने की प्रेरणा तुम्हारे मन में उपजी है, यह वही है। यह जो मेखला के हाथों से चक्रोत्सव होगा, वह उसे अरण्य की ओर जाने से रोक देगा। क्यों ? परन्तु एक बात करनी पड़ेगी।”

वरद बोला—“वह क्या कठिन है, चक्र-पूजा की तिथि शक्ति-पूजा से मिला दी जायगी।”

“गुरुदेव सशंकित हो जायेंगे।”

“प्रसन्न कब हैं वह नगर से ? उत्सव तो ग्राम में होगा।”

नागरिक ही नहीं, अनेक ग्रामवासी भी तो अपने ही उत्सव में भीड़ लगाकर अरण्य की शून्यता बढ़ा देंगे।”

अपार हर्ष में भर गया श्रेष्ठी वरद। कहने लगा—“फिर समय बहुत कम है। वज्रांक के समस्त नागरिकों से सामंजस्य कर हमें इस उत्सव की तैयारी करनी चाहिए अब तुरंत ही।”

“सब सम्मन होंगे इसमें। जलचक्र बना हुआ रक्खा है। उसमें कोई विलम्ब नहीं। नदी के किनारे का कोई ग्राम चुनना पड़ेगा उत्सव के लिए। अभी तां वर्षा के जल से पर्याप्त वेग है उनमें। परसों ही तो पूर्णिमा हुई है—पूरे मास में यही दो दिन कम हुए हैं। तुम्हारे उत्सव की संपन्नता के लिए पर्याप्त हैं।”—चक्रकांत ने कहा।

समस्त नगरों के श्रेष्ठी चक्रोत्सव के इस उत्सव के लिए तन-मन-धन से सहमत हो गये। ग्राम भी चुन लिया गया और उत्सव की तिथि भी वही नियत की गयी। यह समाचार वज्रांक के चारों भागों में विशेष वेग से फैलने लगा।

“मेखले ! वज्रांक हमारा देश बन चला है।”—चक्रकांत ने अपने मन की बात कहनी चाही थी कि मेखला की व हों म बोल उठी—“हाँ, इसीलिए तो मेरे मन में उसकी देवी की पूजा का भाव उदित हो गया।”

घबरा उठा चक्रकांत। फिर साहस बटोरकर उसने कहा—“वज्रांक

के ये चार विभाग प्रकृतिसिद्ध विभाग हैं। इनमें मनुष्य की कोई स्वार्थ-योजना न होनी चाहिए। ग्राम से नगर का जावन है और नगर ग्राम का सहारा। इन दोनों के बीच में विग्रह के फैल जाने से समस्त राष्ट्र की नाव डगमगा जायगी।”

“ऐसे ही नगर और अरण्य का सम्बन्ध भी तो है। फिर क्यों ये नागरिक अरण्य की शक्ति-पूजा को बदनाम करने लगे हैं?”—मेखला ने गुरुदेव का पक्ष लिया।

तमककर चक्रकांत ने कहा—“पहला पग गुरुदेव ने उठाया। क्यों उन्होंने नामों में नागरिकों के विरुद्ध अपने शिष्यों द्वारा प्रचार कराया? उसी विच्छिन्न संबंध को जोड़ देने की योजना है हमारी। सुन तो लो पूरी बात।”

“अरण्य की भाव-शुद्धि पर क्यों नहीं है कोई योग तुम्हारे पास?”—मेखला ने कहा।

“वह भी हो जायगा। नगर ग्राम की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए एक उत्सव का आयोजन कर रहा है और उस उत्सव की शोभा बढ़ायी जायगी तुम्हारी शोभन उपस्थिति से।”—चक्रकांत ने कहा।

कुछ भावों में परिवर्तन हुआ मेखला के। आत्म-प्रशंसा से अधरों पर खिलती हुई प्रसन्नता उसने छिपा ली—“क्या होगा उस उत्सव में?”

“उस उत्सव में नागरिकों का प्रतिनिधित्व ग्रहण करोगी तुम और मेरे जलचक्र का उत्सव करोगी समस्त ग्रामों के मंडलों के नाम पर। महारानी के योग्य प्रतिष्ठा पाओगी मेखले!”

मेखला के गर्वोन्नत मस्तक पर दो तारिकाओं-सी चमकने लगी उसकी आंखें—“कब होगा यह उत्सव?”

“अगामी अमावस्या को।”

“नहीं, आगामी अमावस्या को क्यों होगा?” मानो किमी कूटज्ञता का आभास जान पड़ा मेखला को। वह कहने लगी—“नहीं, वह तो अरण्य की शक्ति-पूजा का दिन है। उस दिन क्यों होगा?”

“ज्योतिषियों ने वही दिन निर्धारित किया है।”

“कहाँ के ज्योतिषियों ने?”

“नगर के ज्योषियों ने ।”

“नगर के ज्योतिषी नहीं कर सकते शुद्ध गणना । नगर की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं से ग्रहों के मार्ग अवरुद्ध रहते हैं, अरण्य में अधिक सुपास है, ओट नहीं है कुछ भी । गुरुदेव की सम्मति है इसमें ?”

“यह नगर का अपना उत्सव है । गुरुदेव या महाराज से पूछने की क्या आवश्यकता है ?”

“नहीं, एक उत्सव दूसरे उत्सव से टकरा जायगा । तुम्हें दूसरी तिथि नियत करनी चाहिए ।”

“यह निर्णय हो चुका है । चारों ओर इस आशय के समाचार भेज दिये गये हैं राज्य भर में ।”

“तब विवशता है ।”—मेखला बोली ।

“कैसी विवशता ?”

“उस दिन मैं अरण्य की शक्ति-पूजा में सम्मिलित होने का निश्चय कर चुकी हूँ । देवी के लिए तथा अपने लिए मैंने वस्त्र और अलंकार बनवाये हैं । नगर के कई गण्यमान्य श्रेष्ठियों की पृष्ठभूमियों के साथ वहाँ चलने का निश्चय किया है मैंने । उनके साथ की गयी प्रतिज्ञा न तोड़ूंगी मैं । नहीं ता वे कहेगी, मेखला बड़ी चपल-मति है ।”

“और अपने पति द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का कोई मूल्य न रहने दोगी तुम ?”

“तिथि सहज ही बदली जा सकती है । अभावस्था के अंधकार से पूर्णिमा क्यों बुरी होगी ? उत्सव देर तक हुआ, तो दर्शकों को घर लौटने में सरलता होगी ।”

चक्रकांत को सूझा — “एक उपाय है मेखले, तिथि तो नहीं बदलेंगे वे, समय में हेर-फेर हो सकता है । प्रभात समय तुम शक्ति-पूजा में सम्मिलित होकर संध्या समय ग्राम के उत्सव में उपस्थित हो जाना ।”

“यदि तुम रथ बना चुके होते, तो तुम्हारी यह बात युक्तियुक्त होती । थक न जाऊँगी मैं ? पर प्रश्न आंति का भी नहीं है । शक्ति-पूजा का विशेष देखने योग्य समय तो रात्रि ही है ।”—मेखला बोली ।

“किसने कह दिया ? मैं देख चुका हूँ रात्रि की वह भयानक उल्लस-

कूद ! वह वीभत्स हो-हल्ला ! वह भूतों का नृत्य !”—विरसमुख होकर चक्रकांत बोला ।

“नगर की श्रेष्ठतम श्रेष्ठि-पत्नियाँ कहती हैं—उस नृत्य में योगदान देनेवाले को परिवार-सहित पूरे वर्ष भर न तो किसी भूत-प्रेत की बाधा सताती है, न उसपर किसी राग की ही छाया पड़ती है ।”

“भूठी बात ।”

“मेरा तो विश्वास है । मैं तो जाऊँगी हो । क्या तुम्हें वर्षपर्यन्त मुझे स्वस्थ और सशक्त देखने की कामना नहीं है ? फिर तुम भी तो वैसे ही रहोगे ! चक्र के उत्सव का समय पूर्वाह्न में क्यों नहीं रख लेते ? दिन ही दिन क्या बुरा है ? अनेक ग्रामवासी भी तो अरण्य की पूजा में सम्मिलित होंगे । भगवान की सत्ता में वे नगरवासियों से अधिक और अकृत्रिम श्रद्धा-भक्ति रखते हैं ।”

पर नगर के श्रेष्ठियों को गुरुदेव के मेले का रंग उड़ाना था और चक्रकांत नहीं चाहता था उसकी पत्नी रात को अरण्य के उस भूत-नृत्य में समाविष्ट हो । क्या करे वह, कुछ समझ ही में नहीं आया उसके । अंत में कहने लगा—“हमारे विग्रह पर हमारे मित्र-शत्रु दोनों हँसेंगे । हम किसी को ऐसा अवसर क्यों दें ? तुम्हें मेरी बात मान लेनी चाहिए । अपनी पत्नी पर कोई भी बश न रखनेवाला पति श्रेष्ठियों के बीच में अर्जित अपनी कीर्ति को स्थिर न रख सकेगा । हमारे मध्य कभी ऐसी विचार-भिन्नता न उपजी थी ।”

“जब उपजी थी, तब सदैव ही चक्र ने उसे दूर कर दिया था । क्यों ?”—पति की संचित मुद्रा पर मेखला ने अपने सस्मित मुख की किरण डाली ।

कुछ उत्साह दिखाकर चक्रकांत ने विचारा—“यदि चक्र ने मेखला की ही मनोकामना पूरी की, तो फिर तो कोई दूसरा उपाय ही न रह जायगा ।” उस बात पर आवरण डाल देने के लिए बोला—“अच्छा, श्रेष्ठी वरद का निर्णय हमें मान्य हो ।”

“क्यों हो ? पुरुष पुरुष की ही सहायता करेगा । श्रेष्ठी वरद की धर्मपत्नी का निर्णय कदो तो मुझे मान्य हो सकता है ?”

चक्रकांत सम्मत न हुआ इसपर ।

चक्रकांत

“अच्छा, गुरुदेव सही।”—मेखला ने दूसरा प्रस्ताव सामने रक्खा।

“वह अपने स्वार्थ पर ही खिंचे रहेंगे।”

“मनुष्य की बुद्धि पक्षगामिनी है, तो फिर उस चक्र को ही उठा लाता हूँ। उसका निर्णय मानने के हम अभ्यस्त हैं, उसमें पक्षपात के लिए कोई चेतना नहीं है।”—कहकर मेखला कक्षांतर में गयी।

वहाँ सूत कातने का एक चरखा रक्खा था। उसका चक्र निकाल कर वह चक्रकांत के पास चली आयी और कहने लगी—“लो तुम्हीं चलाओ पहले।”

चक्रकांत भूमि पर चक्र चलाने को बाध्य हुआ। उसने चक्र चलाया। उसका हृदय स्पंदित था—चक्र मेखला के पार्श्व में गिर पड़ा।

ताली बजाकर मेखला ने अपनी विजय घोषित की।

“एक बार तुम भी तो चलाओगी नियमानुसार।”—चक्रकांत ने आशा के छूटते हुए पैर पकड़कर कहा।

“हाँ, हाँ। क्यों नहीं, मैं भी चलाऊँगी। मेरे हाथों में क्यों यह मेरी इच्छा का अनुगमन न करेगा।” मेखला ने चक्र उठाकर भूमि पर लुढ़काया।

चक्र दूसरी बार भी मेखला के ही पक्ष में गिर पड़ा।

“हा! हा! फिर मेरी विजय हुई! अब मैं निश्चित रूप से अरण्य की शक्ति-पूजा में सम्मिलित हुई!”—मेखला ने कक्ष में नाचते हुए कहा।

उच्चस्वरित विरोध को लेकर चक्रकांत उठ खड़ा हो गया—“नहीं, तुमने कूट-कौशल का उपयोग किया। तुमने अपने पक्ष की ओर पहले ही झटका देकर उसे चलाया। यह नहीं है मुझे मान्य।” चक्रकांत द्रुतपगों से कक्ष के बाहर चला गया।

मेखला बोली—“चक्र के निर्णय का ऐसा विरोध तुमने कभी नहीं किया था। ठहरो तो सही, कुछ जलपान तो करते जाओ।”

चक्रकांत बिना सुने ही चला गया। सीधे अपनी उद्योगशाला में चला गया। वहाँ किसी भी कलाकार, शिल्पी या उद्योगी से बात नहीं की उसने। अपने विश्राम-भवन में जाकर द्वार बंद कर लिये और सिर पर हाथ रख गहरी चिंता में डूब गया।

राज्य भर के संकटों को दूर करने का भार गुरुदेव पर था। राज्य के चारों कोने की जनता अपने संशय-भय, कष्ट-क्लेश, दुःख-दैन्य, रोग और पीड़ाओं के लिए अंतिम अवलंब गुरुदेव को ही समझती। गुरुदेव अपने पूजा-पाठ, मंत्र-तंत्र, वराशिष से सदैव ही उनकी सहायता को सन्नद्ध रहते थे। सब उन्हीं की शरण में आते थे, किसी ने गुरुदेव को किसी के पास जाते हुए नहीं देखा था। नगरों के श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ श्रेष्ठी, ग्रामों के बड़े-से-बड़े प्रधान ही नहीं, स्वयं महाराज भी गुरुदेव के दर्शन के लिए समय पड़ने पर जाते थे।

आज गुरुदेव का स्थिर आसन हिलने लगा। ठीक शक्तिपूजा के दिन चक्रोत्सव के आयोजन-समाचार यथासमय गुरुदेव के कानों में पड़े। क्रोधावेश में वह बोले—“सरल ग्रामवासियों की अरण्य के प्रति जो भक्ति है, उसी को कलुषित कर देने के लिए यह नागरिकों की चाल है।”

“हाँ महाराज, वे स्वयं अरण्य के विरोधी हो गये और ठीक शक्ति-पूजा के दिन ग्रामवासियों को चक्र के फेर में डालकर अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें गुरुदेव से पराङ्मुख कर दे रहे हैं।”—एक शिष्य ने निवेदन किया।

“क्या होगा उस चक्रोत्सव में ? क्या वह उत्सव शक्ति की तुलना में ठहर सकेगा ? माता से बढ़कर आकर्षण है उसमें ?”—गुरुदेव ने अपनी लंबी दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहा।

“यह तो उसी दिन ज्ञात हो सकेगा महाराज ! सच-झूठ की भगवान जाने। इस समय विज्ञापन तो इस प्रकार दिया जा रहा है कि चक्र स्वयं घूमेगा, बिना किसी मनुष्य या पशु के परिश्रम-प्रयाग के। गुरुदेव ! ऐसा हो सकता है क्या ?”

“कभी नहीं हो सकता ! यदि चक्र अपने आप चलने लगे, तो मनुष्य के सभी काम न कर देगा वह ? फिर मनुष्य क्या करेगा !”

“केवल दर्शक होकर रहेगा महाराज !”

फिड़ककर गुरुदेव बोले—“नहीं रह सकता। यदि इस प्रकार बिना किसी जीवित सहायता के चक्र चलने लग जाय, तो शक्तिमाता अपना विमूक स्थैर्य प्रतिमा के बंधन में न छिपा सकेगी।” फिर कुछ सोचा उन्होंने—“नहीं, मैं कहता हूँ। ग्रामवासियों को धोखा दिया जायगा।

चक्रकांत

छिपाकर किसी प्रकार चक्र गतिवान् करेंगे दुष्ट ! शक्तिमाता के इन नास्तिकों के राजदंड की व्यवस्था करनी पड़ेगी ।” कहकर गुरुदेव उस शिष्य को साथ लेकर राजधानी की ओर चल दिये उसी समय पैदल ही ।

दूसरे दिन राजधानी में पहुँचे । महाराज प्रद्योत ने सचिवोंसहित अभूतपूर्व अभ्यर्थना की और उन्हें अपने सिंहासन पर ले जाकर बिठाया । हाथ जोड़कर एकांत में पूछा—“गुरुदेव ! क्या आज्ञा है सेवक के लिए ?”

गुरुदेव ने कहा—“चक्रकांत को देशनिकाला दे दो । सारी अव्यवस्था उसी ने फैलायी है ।”

प्रद्योत ने नम्रतापूर्वक कहा—“वह तो प्रजा के हित-साधन में संलग्न है, बिना अपराध उसे कैसे दंड दिया जायगा ?”

“उसी के कारण शक्ति-पूजा चक्रोत्सव से ढक दी जा रही है । तुम्हारे पूर्वज सदैव ही शाक्त रहे हैं । तुम पर नहीं विदित है वह महाशक्ति ?”—ललकारकर गुरुदेव ने पूछा ।

हाथ जोड़कर महाराज बोले—“क्यों नहीं महाराज ! इसीलिए तो अपने प्रत्येक नगर के प्रधान श्रेष्ठियों को यहाँ बुलाकर समझा चुका हूँ मैं । चक्र उपयोगी तो होगा, कृपक का भार हलका करेगा अवश्य ।”

“तुमपर भी उन्होंने जादू चला दिया । उसके उत्सव की तिथि पहले या दूसरे दिन को भी नहीं टला सके ?”—निराश होकर गुरुदेव ने कहा ।

“वे कहते हैं, हम बिना किसी जीव-शक्ति के चक्र चला देंगे । यदि गुरुदेव की प्रतिमा भी बिना किसी जीव-शक्ति के हिलने लगे, तो हम पराजित हो कभी न करेंगे चक्रोत्सव !”—महाराज ने कहा ।

पाँच

महाराज के पास से निराश लौटकर गुरुदेव ने अपने शिष्यों से कहा—“जान पड़ता है, वज्रांक का गौरव सब समाप्त हो गया ! अरण्य के आशीर्वादों से ही आज तक उसके राजाओं की पीढ़ियों ने बल संग्रह किया था। वे सर्वदा गुरुओं के अनुशासन पर अपना मस्तक विनत करते थे और आज वज्रांक के महाराज प्रद्योत नगर के श्रेष्ठियों के वशीभूत हो गये। गुरु की आज्ञा से विमुख हो श्रेष्ठियों की संपत्ति पर रीझ गये ! उनका बाहुबल आत्मा का बल था, आज उन्होंने उसे आटे पर स्थापित कर दिया, शिष्यगण !” गुरुदेव ने कुछ क्षण मौन धारण किया।

“गुरुदेव ! गुरुदेव की जय !”—शिष्यों ने अरण्य में मधुर प्रतिध्वनि जगायी।

“कैसी जय गुरुदेव की ? वह खंडित हो गयी ! नगर उसके विरुद्ध हो गये और महाराज के हृदय में भी उसके प्रति आदर नहीं रहा !”—खिन्नता के साथ गुरुदेव बोले।

“हमें केवल गुरुदेव की सुदृष्टि चाहिए संरक्षण के लिए, जिस प्रकार माता की करुणा उन्हें अपेक्षित है।”—शिष्यों ने कहा।

एक भटके हुए को जैसे उसका आसन मिल गया, ऐसे ही गुरुदेव के भावों से विदित हुआ—“माता ! हाँ माता ! उसकी उपेक्षा कर मैं नंगे पैर राजधानी को दौड़ गया। फल मिल गया। क्षमा करो माता—महाशक्ति, महामाये ! आज तीन दिन से तुम्हारी पूजा-आरती भी नहीं हुई !”

“सब हमने की गुरुदेव !”

“कैसे की तुमने ? मंदिर की चाभी तो मेरे यज्ञ-सूत्र की गाँठ में है। मंदिर के द्वार कैसे खोल लिये तुमने ?”—गुरुदेव ने पूछा।

“मंदिर के द्वार नहीं खोले गुरुदेव !”

गुरुदेव आश्वासित हुए—“बाहर ही से नित्यनियम पूरा कर दिया,

ठीक है। जो देवी भीतर है, वही बाहर भी तो। फिर उसी के उत्सव की प्रतिष्ठा के विरुद्ध युद्ध करने ही तो मैं गया था! चलो पूजा-सामग्री प्रस्तुत करो। सबसे पहले पूजा ही होगी।”

गुरुदेव कंधे पर के यज्ञ-सूत्र में लटकती हुई चाभी हाथ में ले मंदिर की ओर चले। हठात् मार्ग में उन्हें धूप में चमकती हुई एक रौप्य-मुद्रा दिखाई दी। वह उसे उठाकर बोले—“हैं। यह राजा की मुद्रा। कहाँ से आ गयी यहाँ? इसे भिच्चा में लेने का सर्वथा निषेध है शिष्यों को।” उन्होंने अपने-अपने काम की ओर धावमान शिष्यों को पुकार कर कहा—“पत्नी नहीं ला सकते इस मुद्रा को यहाँ। अवश्य कोई शिष्य ही लाया है। कौन लाया है?”

“हम क्यों लाने लगे गुरुदेव।”—अनेक ने उत्तर दिया।

गुरुदेव असंतुष्ट होकर बोले—“फिर और कौन लाया?” उन्होंने समस्त शिष्यों को एक पंक्ति में खड़ा किया और एक-एक से व्यक्तिगत रूप से पूछा।

किमी ने स्वीकार नहीं किया।

“बड़ी लज्जा की बात है। यह राजा की मुद्रा कभी नहीं आयी अरण्य में। केवल राजधानी, नगर और ग्राम ही इसके क्षेत्र हैं। अरण्य में केवल माता ही इसकी अधिकारिणी है। शिष्यों, इसके स्पर्श से तुम्हारे हाथ ही अपवित्र नहीं हुए, तुम्हारे अधरों में भी असत्य का निवास हो गया।”

“नहीं, गुरुदेव हम नहीं लाये।”

“कैसे विश्वास कर लूँ? इस मुद्रा का अस्तित्व ही कहता है कि तुम्हारी वाणी का बल चला गया।”

“पिष्ठकूटक लाया होगा महाराज।”—एक शिष्य ने कहा।

“कौन है पिष्ठकूटक?”—तिरछी दृष्टि कर गुरुदेव ने पूछा।

“एक अग्निपूजक है। अरण्य के बाहरी भाग में कुछ दिन से रहने लगा है। वहाँ उसने एक चैत्याकार विशाल अग्निमंदिर बनाया है।”—एक शिष्य ने कहा।

दूसरे ने प्रतिवाद किया—“अग्निमंदिर नहीं है वह, न वह मनुष्य अग्निहोत्री ही है।”

“फिर क्या है ?”—गुरुदेव ने पूछा।

“अग्निमंदिर नहीं, वह रोटी पकाने की भट्ठी है। और वह मनुष्य रोटी-विक्रेता है।”

“किससे पूछकर आया है वह अरण्य में व्यवसाय चलाकर उसको अपवित्र करने के लिए ? रोटी कहाँ, क्या हमारे आश्रम में बेचता है ?”—गुरुदेव ने पूछा।

“हाँ महाराज, इधर ही के मार्ग से ग्रामों में फेरी लगाने जाता है।”

“मैंने तो नहीं देखा उसे कभी।”

“अज्ञात है महाराज, वह जान-बूझकर आपकी दृष्टि बचाता है, या कभी संयोग ही नहीं हुआ। बहुधा जब आप पूजा के लिए मंदिर में संध्या और प्रभात समय रहते हैं, तभी वह इधर से आता-जाता है।”

“तुममें से किसी ने खाई उसकी रोटियाँ ?”—गुरुदेव ने पूछा।

“हाँ महाराज, पहले दिन नमूना बाँटा उसने। भिन्ना में सबको दी एक-एक रोटी। स्वादिष्ट ही नहीं, देखने में भी साँचे में ढली, नपी-तुली थीं।”

“फिर भी तो खाई होगी तुमने ? भूख न बोलना।”—गुरुदेव ने पूछा।

“नहीं महाराज, वह विदेशी व्यवसायी क्यों देने लगा हमें बिना मुद्रा के ही ?”

“तब उसकी रोटी के स्वाद के लिए ही तुम यह मुद्रा ग्रामवासियों से भिन्ना में नहीं लाये हो, तो अवश्य अपना शारीरिक श्रम बेचकर लाये हो। माता ! माता ! क्या है तेरी इच्छा ?”—कहते हुए गुरुदेव मंदिर की ओर दौड़ गये। महाराज की उपेक्षा से भी बढ़कर उनके हृदय में उस आक्रांतक की मनमानी गड़ गयी। पूजा का समय न होता, तो वह उसी समय जाकर उसका अग्निमंदिर गिरा देते।

शिष्यों ने पूजा की सामग्री उपलब्ध की। मंदिर की अखंड ज्योति तीन दिन तक स्नेह न मिलने से निर्वापित हो गयी थी। सबसे पहले

चक्रकांत

गुरुदेव ने उसी को प्रज्वलित किया। अनेक प्रकार के अपशकुन, अनियम और अतिक्रमों को एक साथ ही पाकर उनकी सारी सुधि-बुधि उड़ गयी।

द्वार बंद कर उच्च स्वर से उन्होंने मंत्रपाठ आरंभ किया। हृदय और मस्तिष्क की सशक्तता साधी। दीपक के प्रकाश में महामाया की प्रतिमा चमक उठी थी और उसपर चमक उठा भिक्षा का रत्नहार।

गुरुदेव के लोभ को बड़ जाने का मार्ग मिल गया। वह कहने लगे—“हे माता, यह तेरी ही माया है, जो तूने मेखला के मन में अपनी भक्ति का दीपक जगाया है। राजा श्रेष्ठियों के अधीन है और समस्त श्रेष्ठी चक्रकांत के वश में हैं। चक्रकांत को मेखला के वश में होना ही चाहिए। मैंने उसे देखा है, वह असाधारण गुणशीला है और अप्रतिम रूपवती। उसके भक्ति जागी है माता के प्रति। उसने अपना बहुमूल्य आभूषण उसे समर्पित किया है। माता ने स्वयं अपने उत्सव की संरक्षा के लिए मेखला के मन में प्रीति जगायी है। चक्र का उत्सव उसके द्वारा सहज ही तोड़ा जा सकता है।”

गुरुदेव ने द्रुतगति से अपनी पूजा समाप्त की विधिपूर्वक। उन्होंने बाहर पदार्पण किया। द्राक्षा की भक्षा लानेवाले शिष्य को बुलाकर वह एकान्त में चले गये। शेष सब चेले निकटस्थ उत्सव के आयोजन में लग गये।

“वत्स, श्रेष्ठियों के साथ हमारा विग्रह बढ़ चला है। उन्होंने राजा के मन में भी हमारे लिए विष बो दिया है। गुरुता से राजसिकता की चाटुकारी नहीं हो सकती।”—गुरुदेव ने कहा।

“तो क्या हानि है गुरुदेव! हम अपने उत्सव की तिथि दूसरी नियत कर लें।”

“क्या? क्या बक गया तू? अनादि काल से चला आता हुआ वह पुण्यपर्व, उसका परंपरा अच्छे-बुरे हैं; राजधानी, नगर और ग्राम इन तीनों को सम्मिलित शक्ति भी उसका कोई चोट नहीं पहुँचा सकता। महाकाल उस माता की भृकुटी में रहता है। उसके उत्सव की तिथि को

इधर से उधर सरका देना क्या मेरे हाथ की बात है ?”—गुरुदेव ने उत्तेजना के साथ कहा ।

“नागरिक जान-बूझकर ही हमारी पूजा को ठेस पहुँचाने के लिए ही उसी तिथि में अपना उत्सव कर रहे हैं । गुरुदेव, यदि आमवासी भी उनके बहकावे में आ गये, तो ?”—कातर भाव से शिष्य ने जिज्ञासा की ।

“मेखला के पास जाओ ।”—गुरुदेव रुक गये ।

शिष्य के मुख पर प्रसन्नता खिल उठी —“क्या कहना होगा ? यही कि वह अपने पति पर प्रभाव डालकर चक्रोत्सव की तिथि में परिवर्तन करा दे ?”

“उद्देश्य यही है, पर विधेय कुछ दूसरा ।” गुरुदेव कहने लगे—
“सुनो, हमारे उत्सव की रात्रि में अधिष्ठात्री का पद सदैव ही राज्य की महारानी का दिया जाता रहा है । इस बार राजा के दुर्बल हो जाने से मैं उस पद पर किसी दूसरे को आसीन कर देना चाहता हूँ ।”

“मेखला ही को क्या ?”

“हाँ, क्या वह उसके उपयुक्त नहीं ?”

“क्यों नहीं—संवन्धा उपयुक्त है ।”

“अभी जाओ । चक्रकांत की अनुपस्थिति जाँच लेना । एकान्त में उससे कहना—तुम्हारी भेंट वनवासिनी माता ने विशेष अनुरक्ति से स्वीकार की है । गुरुदेव भी उपकृत हुए हैं । अनेक आशीर्वादों के साथ वह तुम्हें आगाही उत्सव की अधिष्ठात्री बनाना चाहते हैं । आज तक यह पद राज्य की महारानी का था, अब माता ने उसकी शोभा बढ़ाने के लिए तुम्हें चुना है ।”—गुरुदेव ने कहा ।

“तिथि के लिए कुछ न कहना होगा ।”

“नहीं । यदि उस पद पर वह आकृष्ट हो जाय, तो तिथि के परिवर्तन का विषय उसका अपना हो जायगा ।”—गुरुदेव ने कहा ।

“भिन्ना की थैली ?”

“और कोई पार्थिव भिन्ना न माँगी जायेंगे आज । केवल वाचिक भिन्ना, उसके लिए कोई पात्र नहीं चाहिए । हाँ, प्रसादस्वरूप कुछ फल-फूल अवश्य ले जाने होंगे ।”

सब प्रकार से समझा-बुझाकर गुरुदेव ने शिष्य को नगर की ओर विदा किया। मार्ग में कुछ दूर तक वह उसे पहुँचा आये।

छः

चक्रकांत ने गेहूँ चबानेवाली उस जाति को आटे का स्वाद चखा-कर उनके विचारों में परिवर्तन कर दिया। चारों भागों में परस्पर एक विचित्र स्पर्धा का जन्म हो गया। रोटी का स्वाद तो चख चुके थे ही वे। फिर यह कौन एक नवीन रोटी के आकर्षण को लेकर उसके द्वार पर डेरा डालकर पड़ा है ? उसका नाम है पिष्टकूटक।

अर्द्धगोलक के आकार का एक स्तूप निर्माण किया है उसने वज्रांक के अरण्य की सीमा पर ! मूढ़ लोगों में उसने मंदिर का भ्रम उपजाया है। वह अरण्य से काटकर लकड़ियाँ जलाता है उसमें और इसी से लोगों ने उसे अभिपूजक समझा है।

वह अरण्य के मार्ग से ग्रामों में जाता है। वहाँ से आटा मोल लाता है और साँचे में ढाल-ढालकर एक विशेष प्रकार की रोटी बनाता है—बड़ी हलकी और स्वादिष्ट। आश्रमवासी उसकी रोटी के स्वाद से मुग्ध हो गये ! गुरुदेव के चेहों को भिक्षा में नहीं देता अब वह उन रोटियों को। उनके दाम माँगता है। और शिष्य उन रोटियों के ऐसे मोह में पड़ने लगे कि ग्राम से भिक्षा में द्रव्य भी माँगने लगे। द्रव्य के लिए गुरुदेव के निषेध की चिन्ता नहीं की उन्होंने। इस तथ्य को छिपा लिया उन्होंने गुरुदेव से।

वह भट्टीवाला सुमेरु पर से आया है। त्रिविष्टप की निवासिनी एक बाला से उसने विवाह किया है। तरला उसका नाम है। तरला से उसके एक पुत्र है, उसका नाम धूम्रशिख है। ये तीनों बड़े दृष्ट-पुष्ट, सुंदर और चतुर हैं। प्रकृति के संसर्ग में जितने हैं, नगर के संघर्ष की ओर बढ़ जाने को भी उतने ही लालायित हैं।

तीस-चालीस बकरियों का झुंड भी उसके साथ है। कुछ चँवर गायें और चार भयानक काले कुत्तों को भी लाया है वह। इन जानवरों में लादकर ही वह अपने सामान-सहित आया है।

उसने भट्टी पत्थर से बनाकर उसे लाल मिट्टी से लीप-पोतकर आकर्षक बनाया है। रहने के लिए दो छोलदारियाँ तान रखी हैं। एक में वह परिवार-सहित रहता है, दूसरे में उसका सामान रक्खा है और व्यापार चलता है। उसके पशु रात-दिन आँधी-पानी में भी बाहर ही रहते हैं।

हिंस पशु या चोर-डाकुओं का उसे कोई भय नहीं है। उसके चारों काले कुत्ते रात को बड़ी सजग नींद सोते हैं और स्वामी की भक्ति की दृढ़ चेतना से भरे हुए हैं। वे इन निरीह पशुओं की जीवन-रक्षा अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं। उनके नख-दाँत बड़े तीक्ष्ण हैं और उनकी दहाड़ रात के समय उस अरण्य के गिरि-गह्वरों में भयानक गूँज उत्पन्न कर देती है। दिन में भी तो कोई उनके निवास की ओर बढ़ने का साहस नहीं कर सकता।

सब पशुओं के गलों में उनके आकार के अनुपात से बड़ी-छोटी घंटियाँ बंधी हैं। अधिकतर तरला और धूम्रशिख ही उन्हें चराने के लिए वनों में ले जाते हैं। चलते-फिरते जब उनकी घंटियाँ बजती हैं, तब उस एकांत प्रदेश में एक मधुर रागिनी सजीव हो उठती है।

पशु उनके भारवाही भी हैं, पशुओं के दूध से उनका पोषण भी होता है। पशुओं का दूध जमाकर दही से पिष्ठकूटक अपने आटे में भाग उठाता है। उस क्रिया से ही उसने अपनी रोटी में विशेष आकर्षण उपजाया है, आटे के प्रथम आविष्कार ने जो हलचल वज्रांक में मचा दी थी, उसकी पतली रोटी ने जो व्यापक स्वागत पाया था, वही संकार पिष्ठकूटक की मोटी रोटी अल्पकाल में ही पा लेगी, ऐसा गुरुदेव के चेले कहने लगे थे।

धीरे-धीरे वज्रांक की राजधानी तक पहुँचने का लक्ष्य है पिष्ठकूटक का। उसका व्यापार वहीं समृद्धि को पहुँचेगा, ऐसा उसका विश्वास है। अभी थोड़ी-सी रोटियाँ बनाता है वह। कुछ अपने परिवार के उपयोग में लाता है, शेष सबकी सब गुरुदेव के शिष्य उड़ा जाते हैं।

अरण्य से अभी तक नहीं बढ़ सकी उसकी मोटी रोटी, न वह स्वयं ही जा सका है आगे को ।

पशुओं के मोह ने अरण्य में रोक दिया है उसे । ग्राम का कोई आकर्षण नहीं है उसे । नगर कुछ खींच लेता है उसकी कल्पना को । पर नगर में उसके पशुओं के चरने का कोई सुभीता नहीं । नगर के आधार से राजा की दृष्टि अधिकृत कर लेगा वह, ऐसा विश्वास है उसका; पर स्वच्छ और परिष्कृत नगर उसके पशुओं को कोई स्थान देंगे या नहीं, यही उसकी दुविधा है ।

और वे चार काले कुत्ते ? उन्होंने सदैव ही उसके संकट को दूर भगाया है । उनको वह कहीं छोड़ दे, तो वह उसकी और स्वार्थाधता होगी । साथ कहाँ ले जा सकेगा ? वे निःसंदेह नागरिकों को काट खावेंगे । वह तो अपनी मोटी रोटी को महाराज की मुद्रा की भाँति उस नये राष्ट्र में प्रचारित करने आया है, प्रजा से लड़ाई-भगड़ा मोल लेने नहीं ।

वे तीनों एक-एक तत्व को लेकर अपनी कला प्रदर्शित करते हैं । पिष्टकूटक पृथ्वी तत्व को लेकर चलता है । वह अपने माध्यम के लिए चिंतायुक्त है । यदि वज्रांक में चक्रकांत की चक्की न चल गयी होती, तो सचमुच ही उसके लिए बड़ी कठिनाई होती । पर चक्रकांत के पूर्व प्रवेश ने उसका मार्ग सुगम कर दिया था । आटे में भाग उठाने को दही भी उसे सर्वत्र प्राप्य है । साँचे बकरियों में लादकर साथ-साथ ले जाता है । भट्टी जहाँ उसके डेरे जमते हैं, वहाँ बना लेता है वह । उसकी वह फूली—मोटी-रोटी, खट्टी-भीठा स्वादिष्ट ! वह वज्रांक को विजित करने चला है उस लेकर । चक्रकांत की चक्की का भेद खुल पड़ा था, पर उस भट्टियार ने अपनी मोटी रोटी का रहस्य न तो तरला को बताया है, न धूम्रशिख को ही उसमें सम्मिलित किया है ।

तरला का माध्यम है जल-तत्व । वह पानी को लेकर अपनी कला दिखाती है । जल को गरम करती है, उसमें दूध-चीनी भी मिलाती है । इतना तो काँई भी बना सकता है, जो उसके पेय का एक घूँट भी पी ले । परंतु वह चौथी वस्तु कोई नहीं बना सकता, जो उस तरलता में नयनरंजक रंग देती है तथा उसमें अनोखा स्वाद और तृप्तिकर सुगंध

भर देती है। पति और पुत्र केवल इतना ही जानते हैं, वह एक प्रकार की बनायी गयी पत्नी है। लेकिन वे आपको इतना रहस्य भी किसी मूल्य पर बता देने को प्रस्तुत नहीं।

तरला की चिंता का कारण वही पत्नी थी। आठ-दस बकरियों में लादकर वह वनी-बनायी पत्नी अपने साथ ले तो आयी थी, पर उस के समाप्त हो जाने पर वह क्या करेगी? वह अपने पतिदेव की रोटी के साथ-साथ उसको प्रचारित करना चाहती थी। वह पेय उस रोटी का अद्भुत जोड़ा था। वे लोग उसमें भिगा-भिगा कर उस रोटी को खाते थे।

गुरुदेव की शिष्य-मंडली ने अभी कहाँ चखा था उस पानक को? तरला उसकी सीमित मात्रा साथ होने के कारण अपने ही उपयोग के लिए बनाती थी तीन समय, केवल तीन ही पात्र भरकर अपने, पति और पुत्र के लिए।

प्रचार की बात तो दूर रही, कभी-कभी वह चिंता करने लगती थी—“यदि पत्नी समाप्त हो गयी, तो अपनी ही रसवृत्ति कैसे करेंगे। मोटी रोटी न मिलेगी, तो पतली से काम चल जायगा; पर यह रंगीन घूँट—जल इसका स्थान कदापि नहीं ले सकता। दूध?—वह भी नहीं।”

तरला साधारण स्त्री नहीं, दूरदर्शिका है वह। यदि वस्त्रांक के जल-वायु उसका साथ देने को प्रस्तुत ही न हों, तो दूसरी बात है। वह अपने साथ दो थैलियों में उस पौधे के बीज भरकर लायी है, जो उसके सुमधुर पेय के सुविशेष भाग हैं। उस अरण्य में एक क्यारी में उसके कुछ बीज बो दिये हैं। वह नियमपूर्वक उनका सिंचन करती है और आकुल प्रतीक्षा को लिये उनके अंकुरित होने के दिन का स्वप्न देखती है।

धूम्रशिख—वायुतत्व को लेकर उसने अपनी कला दिखायी है। पति, पत्नी और पुत्र, कोई किसी के ऋण से ग्रस्त नहीं। पिष्टकूटक ने मोटी रोटी खिलायी है, तो तरला ने उसे निगलने में सहायता दी है अपनी रंगीन घूँट से और उस रोटी तथा घूँट को पचाने के लिए धूम्रशिख ने अपने आविष्कार का वह नीला धुँआ दिया है जो पेट

में उन दोनों को ढकेलकर स्वयं फिर बाहर आकर आकाश की अनन्त नीलिमा में विलीन हो जाता है।

क्या है वह नीला धुँआँ ?—एक पत्ती में लंबाकार लपेटी हुई दूसरी पत्ती, जिसका माटा सिरा अंगारे से लगाकर नुकीला सिरा होंठों से दबा भीतर को साँस ली जाती है, जिससे पत्ती जलकर उसका धुँआँ पेट में खिंच जाता है। तुरंत वह धुँआँ फिर हवा में फूँक दिया जाता है। बार-बार यही क्रिया तब तक की जाती है, जब तक कि वह धूम्रवर्तिका छोटी पड़कर उँगली और अधरो का तप्त करने नहीं लग जाती।

देखनेवाले अवश्य कह देंगे, जब भीतर खींचते ही धुँआँ बाहर फेंक दिया, तब भीतर खींचा ही क्यों ? इस व्यर्थ के श्रम से लाभ ? पर इसके आनन्द का परिचय धूम्रशिख-सहित उसके माता-पिता देंगे। मोटी रोटी के पश्चात् जो आनन्द लाल घूँट देती है, लाल घूँट के अनंतर वही सुख नीली फूँक प्राप्त करा देती है।

बाहर की पत्ती के लिए तो धूम्रशिख निश्चित है, पर भीतर की पत्ती के लिए वह भी अपनी माता के समान कभी-कभी सोच में पड़ जाता है। उसकी माता उसे सात्वना देकर कहती है—“बेटा, यदि मेरी पत्ती इस जल-वायु में अंकुरित हो गयी, तो तुम्हारी भी विकसित हुए बिना न रहेगी।”

दूरदर्शन पुत्र ने भी माता से जन्म के साथ पाया था। छः बकरियों में वह अपनी संस्कार की हुई पत्ती को भर लाया है और एक थैली में उसका बीज। उस बीज को वज्रांक की धरती में उगाकर ही वह अपनी धूम्रवर्तिका का धुँआँ उसके वायुमंडल में बादलों की भाँति फैला देना चाहता है। एक क्यारी में उसने भी अपने बीज बो रखे हैं और उनके फूट निकलने की प्रतीक्षा उसके हृदय में माता से कुछ कम नहीं है।

यह तीन प्रचारकों का परिवार वज्रांक के प्रवेश-द्वार पर डेरा डालकर पड़ा हुआ है। एक विजेता आक्रमणकारी के समान वह था, किसी को इसपर संदेह नहीं हुआ। वह वज्रांक के सारे विचार-क्रम को पलट देगा, सारी सभ्यता को डँवाडोल कर देगा—किसी ने कल्पना

भी नहीं की। उसके संग पशुओं को देखकर किसी को कोई आशंका नहीं उपजी। किसी को क्या ज्ञात था, तीन थैलियों में भरकर जो बीज वे अपने साथ ले आये हैं, उनमें सैन्य-शक्ति से भी महान् भयानकता सुप्त है।

मोटी रोटी बड़ी मीठी लगने लगी गुरुदेव की शिष्य-मंडली को। उसके स्वाद को प्राप्त करने के लिए वे द्रव्य के भिखारी हो गये, उनके मन में लोभ-लालच घर करने लगा। गुरुदेव के आदेश खंड-खंड होने लगे उनकी रक्षा में। द्रव्य का स्पर्श करने का निषेध था। उन्हें, वे उनका संग्रह करने लगे। उन्हें कृषि का श्रम वर्ज्य था, वे ग्रामों में मजूरी करने लगे। द्रव्य के लिए, द्रव्य क्या मोटी रोटी के लिए।

वह भटियारे को मोटी रोटी महान् व्यतिक्रम फैलाने लगी गुरुदेव के आश्रम में। यह सब चोरी छिपाकर ही होता था, उन्हें कुछ भी ज्ञात न था। गुरुदेव के निषेध ने चेलों के मन में छिपाव का भाव उपजा दिया, उसमें से चोरी सहज ही प्रकट हो गयी। अभी तक यह चोरी केवल भाव-रूप से थी। क्या यही उन्नत होकर चेलों को द्रव्य रूप में न फँसा लेगी? कृषि के श्रम से चले अपवित्र हो गये। ग्रामों में यदि उन्होंने द्रव्य की चोरी आरंभ कर दी, तो ?

एक शिष्य के मन में विशेष रूप से बस गयी थी मोटी रोटी। समय-असमय घुस आता था वह उनके डेरों में। कुत्तों को भी उसने अपने प्यार-पुचकार से मिला लिया था और अपने बात-व्यवहार से उस विदेशी परिवार के मन में भी अपने लिए स्नेह जगा लिया था।

वह उनके पास जाकर कभी गृहपति की भट्ठी के लिए जंगल से लकड़ी काटकर ले आता, कभी किसी खोयी हुई बकरी को ढूँढ़ लाता, कभी पानी भर लाता, कभी उनके बीजों को उगाने के संबंध में परामर्श देता और अधिकतर वज्रांक की धार्मिक, सामाजिक एवं सांपत्तिक अवस्था तथा व्यवस्था से परिचित कराता।

“पिष्टकूटक महोदय, जलती हुई लकड़ियाँ और कोयले तो आप सब-के-सब भट्ठी से बाहर निकाल देते हैं। फिर आपकी रोटियाँ कैसे पक जाती हैं ?”—एक दिन उस शिष्य ने पूछा।

“भेद खोल देने से वस्तु का महत्व चला जाता है। इसलिए हे वनवासी, तुम्हारा यह जानने का प्रयत्न निष्फल ही चला गया। क्या तुम्हारे गुरुदेव के समस्त क्रिया-कलाप सबके सामने ही होते हैं ?— पिष्ठकूटक ने पूछा।

“नहीं, उनकी निजी उपासना सदैव ही रुद्ध द्वारों के भीतर होती है, हमसे छिपाकर। इसी से तो हम भी छिपाना सीख गये। अपनी जठराग्नि में आपकी मोटी रोटियों की आहुति हम उनसे छिपाकर ही रखते हैं।”—चेले ने कहा।

पिष्ठकूटक हँसकर बोला --“यदि तुम्हारे गुरुदेव एक दिन भी मेरी रोटी चख लेते, तो ?”

“गुरुदेव कोई वस्तु क्रय नहीं करते। इसी से वह हमने उन्हें अभी तक नहीं चखायी है। देवीमाता के भोग के लिए यदि आप उन्हें नित्यशः बिना मूल्य रोटी दिया करें, तो क्या हानि है ?”

“मैं व्यवसायी हूँ। एक दिन नमूना चखा सकता हूँ। नित्य ही देने लगूँ, तो कहाँ स्थिर रह सकूँगा ? द्रव्य मेरा देवता है, उसी से तो मुझे अपने उपकरण क्रय करने पड़ते हैं न ?”

“रहने दीजिए तब। रोटी का भेद हमपर नहीं खोलते, तो गुरुदेव का मुँह भी उससे जूठा न कीजिए। उनके और रोटी के बीच में आवरण पड़ा ही रहने दीजिए।”—शिष्य ने साग्रह कहा।

पिष्ठकूटक ने शिष्य की सहायता से भट्ठी में लकड़ियाँ भर दीं। उसमें अग्नि स्थापित कर दी भट्ठीकार ने। भट्ठी में केवल एक ही द्वार था। उसी से उसमें लकड़ियाँ भीतर भर दी जाती थीं और उसी से धुआँ बाहर को निर्गत होता था। एक चपटे पत्थर से उस द्वार का मुख बंद कर भट्ठी को स्वयं सुलग जाने के लिए छोड़ दिया पिष्ठकूटक ने।

दोनों छोलदारियों की ओर बढ़े। वहाँ तरला का चूल्हा जल रहा रह था। वह तप्त घंट के निर्माण में दत्तचित्ता थी।

“आज ठीक समय पर आये हो तुम।” तरला बोल उठी—“और तुमने पिष्ठकूटक के साथ पर्याप्त श्रम किया है। अवश्य ही आज तुम्हें भी मैं यह पेय पीने को दूँगी। परंतु फिर तुम्हें इसके लिए कोई आग्रह न करना होगा। द्रव्य के बदले भी हम न दे सकेंगे तुम्हें यह।”

“क्या है यह ?”—अनुरंजित होकर शिष्य ने पूछा ।

“बैठ जाओ स्थिर होकर, पीने से पता चलेगा । तरले ! निगलने के लिए इन्हें रोटी भी देनी होगी । तुमने ठीक ही कहा, इन्होंने श्रम किया है मेरे साथ । जब हम बिना मूल्य कुछ देते नहीं हैं, तब यों ही ले लेना भी तो हमारे व्यवसाय को कलंकित करना है ।”—पिष्ठकूटक ने कहा

“मैं अच्छी तरह समझती हूँ यह बात । धूम्रशिख कहाँ है ?”—तरला ने पूछा ।

“मैं नहीं जानता । बीमार कुत्तों की परिचर्या में लगा है कदाचित् । उन्हें स्नान कराने के लिए झरने पर ले गया है ।”—पिष्ठकूटक ने अनुमान लगाया ।

तुम्हारी रोटी तो बासी हो जाने से और भी स्वादिष्ट हो जाती है, परंतु यह मेरा पानक एक क्षण के लिए भी पवन में नहीं ठहर सकता ।”—तरला बोली ।

“हमें तो भूख लगी है । आता ही होगा वह ।”—पिष्ठकूटक ने कहा ।

एक-एक मोटी रोटी और एक-एक पात्र में अपनी कला का वह उत्तम पानक तरला ने उन दोनों के सामने रक्खा । पानक से उठते हुए सुरभित वाष्प से चेला चैतन्य हो उठा—“क्या नाम है इसका ?”

“उद्दीप्ति है इसका नाम ।”—तरला बोली ।

“और इस मोटी रोटी का नाम जानते हो ? रोटी कहकर नहीं पुकारी जायगी अब यह । यह इसकी महत्ता को सस्ता करना है । मैंने इसका नाम पिष्ठकूटक रख दिया है ।”—पिष्ठकूटक भट्टीकार ने कहा ।

“पिष्ठकूट !”—चेले ने दुहराया ।

“हाँ पिष्ठ इसलिए कि यह आटे से बनता है और कूट इसलिए कि इसके बनाने की समस्त क्रिया गुप्त रक्खी गयी है । छुरा नहीं दे गयीं तरले !”

“छुरे से क्या होगा ?”

“रोटी काटी जायगी, आकर्षक और सममात्रिक टुकड़ों में ।”

“मैं तो हाथ से तोड़कर ही खा लूँगा ।”

“बर्बरता ! सुंदरम् के लिए कोई भी भावना नहीं देखता हूँ मैं तुम

वनवासियों में। मैं तुम्हारे राष्ट्र में केवल पिष्ठकूट का ही प्रचार नहीं करने आया हूँ। मैं तुममें सममात्रिकता के भाव भी जगा दूंगा।”
—पिष्ठकूटक बोला।

“क्या हुई सममात्रिकता ?”—चेले ने पूछा।

“उद्दीप्ति ठंडी हुई जा रही है। विवाद फिर करते रहना।”—तरला ने शासन के स्वर में कहा।

“बराबर तोल की रोटी के बराबर टुकड़े! जैसा एक, वैसा दूसरा—जैसा दक्षिण पार्श्व में, वैसा ही वाम ओर! सानुरूपता ही सममात्रिकता है और वही है सुंदरम् की जननी। सानुरूपता ही सुरुचि का द्योतक है—बिना शुद्ध रेखागणितीय आकार की रोटी खाये तुम्हारी जाति के विचारों में समता और परिष्कृति न आयेगी। इसलिए हाथ से तोड़कर नहीं, छुरे से काटकर इस पिष्ठकूट का सेवन करो। कल ही जब तुम शय्या का त्याग करोगे, तब तुम्हारा मस्तिष्क समत्व के विचारों से परिपूर्ण होगा।” पिष्ठकूटक ने दोनों रोटियाँ सुंदर और सम टुकड़ों में काटकर रख दीं—“खाओ, उद्दीप्ति में भिगा-भिगाकर।”

चेले ने पिष्ठकूट का टुकड़ा उठाकर कहा—“इस रोटी में जो ये छेद किये गये हैं, मधुमक्षिका के छत्ते की भाँति, ये कदाचित् इस पानक की पकड़ के लिए ही हैं।”—चेले ने उद्दीप्ति में भिगाकर वह टुकड़ा अपने मुख में रक्खा। वह उसके चमत्कारिक स्वाद की अभिव्यक्ति के लिए वाक्य ढूँढ़ ही रहा था कि अचानक—

अचानक त्रस्त मनोवेग से चिल्लाता हुआ धूम्रशिख आ पहुँचा—
“पिताजी ! कुत्ता मर गया ! और दूसरा भी अपने पिछले पैर से लँगड़ाते लगा है, जान पड़ता है तीसरे दिन वह भी समाप्त हो जायगा !”

“हो जाने दो, फिर हमें थोड़े मरना है उनके बदले में।” कहता हुई तरला ने पुत्र के सामने एक पिष्ठकूट और एक उद्दीप्ति का भरा पात्र रख दिया—“लो, खा लो।”

“पिताजी ! क्या होगा अब ?”—दीर्घ श्वास त्याग कर धूम्रशिख ने पूछा।

“होगा क्या ? अब उस लँगड़े को अन्य दो के साथ न रखना। इस देश की यह कोई छूत की बीमारी जान पड़ती है।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“ऐसा ही कर चुका हूँ।”—धूम्रशिख ने अपने कौशल को सराहा। तरला ने पुत्र का ध्यान बटाने के लिए शिष्य से पूछा—“क्यों ? कैसा स्वाद है ?”

“अद्भुत ! अतुलनीय और अवर्णनीय ! थोड़ा-थोड़ा नित्य ही यदि मिले, तो भट्टी और चूल्हे दोनों के लिए पर्याप्त ईंधन मैं अकेले ही जंगल से काटकर यहाँ पर जमा कर दूँ।”—चेले ने होंठ चाटते हुए कहा।

“अभी तो नहीं; देखो, अगर मेरी इच्छा पूरी हो गयी, तो इसके प्रचार के लिए भी हम कटिबद्ध हैं।”—तरला ने कहा।

धूम्रशिख ने भी उसी प्रकार छुरे से काटकर पिष्ठकूट खाना आरंभ किया—“पिताजी, यदि शेष दो कुत्ते भी मर गये तो ?”

“फिर वही कुत्ते-कुत्ते ! अरे मर जाने दो। हमने तो नहीं मारा है उन्हें। मरते हैं तो मरने दो, नगर की ओर बढ़ने का जाल कटा। गाय-बकरियों के ग्राहक तो मिल भी जायेंगे। इन भयानक कुत्तों को काइ बिना मूल्य भी न लेता।”—तरला बोली।

“हाँ ठोक तो है।”—पिता ने भी अनुमोदन कर दिया।

“न ऐसी नवनीत-सी रोटी कभी दाँतों-तले आयी, न ऐसा सुधा-सा पानक गले के नीचे उतरा।”—शिष्य ने फिर कहा।

“और कहीं मेरी धूमिका तुम्हारी नासा में बस जाय, तो फिर तुम मेरा पल्ला ही न छाँड़ो।”—कुत्तों से निश्चित हो धूम्रशिख ने अपने मनोयोग की दिशा में परिवर्तन किया।

पुत्र का ध्यान बँट जाने से तरला तो प्रसन्न हो गयी, पर पिष्ठकूटक ने आँखों के संकेत से पुत्र को वर्जन किया। कदाचित् वह धूमिका में से किसी चौथे को तिलार्द्ध भाग भी देने को सम्मत न था।

“क्या हुई धूमिका ?”—शिष्य ने उत्कंठा से पूछा।

“कुछ नहीं। भली चलायी इसकी। एक विषैले धुएँ की बात है। खाँसते-खाँसते तुम्हारी आँतें बाहर निकल आयेंगी, मस्तिष्क के चक्रों में सारा जगत तुम्हारे चारों ओर घूमने लगेगा। छोड़ो वह बात।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

पिता-पुत्र की बातों में आकाश-पाताल का अंतर पाकर शिष्य ने

चक्रकांत

क्षण भर उनका मुँह ताका । अचानक उसे कुछ स्मरण हुआ, उसने कहा—“एक क्यारी में तो अंकुर फूट चले !”

तरला और धूम्रशिख दोनों चौंककर उठ खड़े हो गये और पूछने लगे—“किस क्यारी में ?”

सात

शरण्य में उस दिन गुरुदेव प्राभात से ही मेखला के जप के मनके इधर से उधर कर रहे थे । मेखला को सम्मत कर आज उनका शिष्य लौट आयेगा । इसी दिवा-स्वप्न से वह दोरंगी हो रहे थे—कभी आशा की उज्ज्वलता की ओर और कभी निराशा के सघन अंधकार में ।

यज्ञशाला में दो शिष्य होम-कुंड को लीप रहे थे । गुरुदेव निकट ही अपनी वेदी में बैठकर कुश को बाँधकर ब्रह्मा की रचना कर रहे थे । लीपते-लीपते अचानक एक शिष्य की अंटी खुल पड़ी और तीन-चार सिकके भंक्रुत होकर भूमि पर बिखर गये ।

भंकार ने मेखला और ब्रह्मा के दोहरे जाल से गुरुदेव के ध्यान को खींचकर अपनी ओर किया । उन्होंने आँखें फाड़-फाड़कर सिकों की ओर झपटते हुए शिष्य को देख लिया । दौड़कर उन्होंने चेले का हाथ पकड़ लिया । उसकी मुट्ठी खोलकर देखा—तीन चमकती हुई राजमुद्राएँ !—“कहाँ से चुरा लाये ?”

शिष्य नीरव रह गया ।

“चुराकर लाने का निषेध है । तुम आश्रम के नवीन ब्रह्मचारी नहीं हो ।” क्रोध से गुरुदेव का आनन तमतमा उठा था—“उत्तर क्यों सी लिया मुख में ?”

“चुराकर नहीं लाया हूँ ।”

“भिक्षा का द्रव्य भी निषिद्ध है । क्या तुम पर विदित नहीं है ?”

“भिक्षा में भी नहीं लाया हूँ ।”—गुरुदेव की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर शिष्य ने कहा । भेद खुल जाने पर वह साहस करने को उद्यत हो गया ।

निकट से अनेक शिष्यगण हल्ला सुनकर वहाँ पर एकत्र हो गये । गुरुदेव ने उसका हाथ दृढ़ता से पकड़कर कहा—“सच-सच कहो ।”

भूमि पर पड़े तीन चमकते हुए सिक्कों को देखकर सभी ब्रह्मचारी सितपिटा गये । “आज कहीं पिष्ठकूट का भेद न खुल जाय”—इस चिन्ता से वे जर्जरित होने लगे । छूटा कोई भी न था पिष्ठकूट के स्वाद से ।

“सच ही तो कह रहा हूँ । भिक्षा और चोरी इनके अतिरिक्त भी तो द्रव्यार्जन के मार्ग हैं । मैंने अपने शारीरिक श्रम से इन्हें सिद्ध किया । ग्राम के एक कृषक के चार खेतों में हल चलाया !”

गुरुदेव ने तुरंत ही उसका हाथ छोड़ दिया—“छिः छिः तुमने मुझे भी कलुषित कर दिया । तुम्हें मैंने शिक्षा नहीं दी कि कृषि-कर्म ब्रह्मचारी के लिए अपवित्र वस्तु है !”

“प्रजा के भरण-पोषण की वह श्रम-साधना ! मैं नहीं मान सकता कि वह हेय वस्तु है ! क्यों है, कारण दीजिए ।”

“शिष्य गुरु से कारण नहीं माँगता । आँख बंद कर उसके शब्द के विश्वास पर चलना ही उसका शील है । कहाँ तक कारण माँगोगे ? कार्य और कारण की अटूट लड़ी से जगत परिवेष्टित है । तुम कारण पूछते हो ? एक कारण देता हूँ तुम्हें । सुनो, कृषि-कार्य से लालच बढ़ता है, द्रव्य-संग्रह की उत्तेजना होती है और संग्रह नाना विषयों में, एकाकार मन को विभाजित कर देता है ।”

“राजा फिर क्यों मुद्राएँ चलाता है ?”

“अरण्य के लिए नहीं ढाली गयी हैं वे । पश्चात्ताप नहीं करोगे ? गुरु के वाक्यों में संदेह है तो आश्रम छोड़कर चले जाओ, नहीं तो पाप-स्वीकार करो । तिल-पात्र और चांद्रायण के लिए प्रस्तुत होओ ।”—कहकर गुरुदेव उसे महापातकी समझ उसकी छाया से दूर हट गये और उन्होंने अन्य शिष्यों को भी वहाँ से दूर चले जाने का आदेश दिया ।

“अनेक ब्रह्मचारी भी तो इस प्रकार द्रव्य अर्जन करते हैं । फिर क्यों एक ही का प्रायश्चित्त हो ?”—उच्च स्वर से सबका भेद खोल दिया उस अपराधी ने ।

“अनेक ब्रह्मचारी ?” गुरुदेव ने आकाश की ओर निहारा । “इस द्रव्य से करते क्या हो ? ब्रह्मविद्या तुम्हारा ध्येय है । आधार भिक्षा से

प्राप्य है। फिर क्यों मुद्रा के संग्रह में फँस गये तुम ?”—गुरुदेव ने पूछा।

“गेहूँ के बदले आपने रोटी चला दी आश्रम में, परंतु रोटी पिष्ठकूट के स्वाद के सम्मुख ठहर नहीं सकती।”—चेला बोला।

“पिष्ठकूट क्या है ?”

“आपके अरण्य की सीमा पर जो भट्टीकार आया है, वही बनाता है। वह भिक्षा में नहीं देता, इसी से द्रव्य देकर हमें वे मोल लेने पड़ते हैं।”

“अग्निहोत्री बताकर उसे मेरे संशय के बाहर रख दिया गया इतने दिन। ओहो! यह भट्टीकार तो चक्रकांत से भी भयानक जीव जान पड़ता है।” गुरुदेव ने दो शिष्यों को बुलाकर कहा—“जाओ, उस भट्टीकार को बुलाकर अभी मेरे सम्मुख करो।”

जब वे दोनों शिष्य पिष्ठकूटक के डेरों में पहुँचे, उसी समय वह शिष्य उद्दीप्ति की चैतन्यता से कह रहा था—“एक क्यारी में तो अंकुर फूट चले।” कहते-कहते उसने उन दोनों शिष्यों को आते हुए देख लिया। वह समझा, वे दोनों उसी के अन्वेषक होकर आये हैं।

तरला और धूम्रशिख के जिज्ञासा करते-करते वह वहाँ से खिसक गया। एक कौतूहल पर यह दूसरा आश्चर्य जड़ गया उनके। उसी समय दो शिष्यों ने वहाँ प्रविष्ट होकर भट्टीकार से कहा—“आपको गुरुदेव ने बुलाया है अभी।”

पिष्ठकूटक ने इस निमंत्रण पर हर्ष दिखाया—“क्यों बुलाया है ?”

“यह तो हम नहीं जानते।”

पिष्ठकूटक ने अपनी स्त्री तथा पुत्र से परामर्श किया और उसी समय शिष्यों के साथ चलने के लिए प्रस्तुत हो गया। तरला ने दो पिष्ठकूट एक वस्त्र में बाँधकर गुरुदेव को भेंट करने के लिए पति को दिये।

आठ

अश्रम में पहुँच गुरुदेव के रंग देखकर पिष्ठकूटक उन्हें भेंट देने की बात ही भूल गया। गुरुदेव ने उसके आते ही ललकारा—

“तुमने किसकी आज्ञा से अरण्य में अपने शिविरों के दंड गाड़े हैं ?”

“मैं राजा की ही मुद्रा में उसका राज-कर दे सकता हूँ”—पिष्ठकूटक बोला !

“अरण्य में खेती नहीं करते हम । राजा का उसपर कोई अधिकार नहीं है । अरण्य से यदि वह कर लेना आरंभ कर देगा, तो उसकी राज्यश्री उसे छोड़कर चली जायगी ।”—गुरुदेव अधिक उत्तेजना से बोले ।

आश्रम में इधर-उधर उठती हुई धूम-शिखाएँ देखकर पिष्ठकूटक कहने लगा—“लकड़ी तो जलाते हैं आप ?”

“अरण्य हमारा है । यहाँ मेरा विधान चलता है, राजा का नहीं । तू अरण्य के सिरे पर रोटी की दूकान खोलकर आश्रम के बीच से कंचन का मार्ग निकाल रहा है, यह उचित नहीं है ।”—गुरुदेव ने इस बार कुछ संयत होकर कहा ।

पिष्ठकूटक ने शांति से पूछा—“क्या करूँ फिर ?”

संतुलित होकर गुरुदेव बोले—“नगरों में जाओ, व्यवसाय के लिए वही तो उपयुक्त स्थान है ”

“अच्छी बात है ।”

“आज ही अरण्य रिक्त कर दो ।”

“आज ही कर दूँगा ।”—गुरुदेव को और भी प्रसन्न कर देने के उद्देश्य से पिष्ठकूटक ने वह पिष्ठकूट की पोटली उन्हें दी ।

“क्या है यह ?”

“पिष्ठकूट ! एक चखिए तो सही ।”

“तुमने इसका स्वाद चखाकर मेरे आश्रम के सारे ब्रह्मचारियों को व्रतभ्रष्ट कर दिया । नहीं, मैं इसका स्पर्श भी न करूँगा । अपने पिष्ठकूटों के साथ तुम अभी अरण्य वहिर्गत हो जाओ, इसीसे मुझे अधिक संतोष मिलेगा ।”

भट्टीकार पोटली समेटकर चला गया । उसके मन में हर्ष का अभाव नहीं था । नगर का मार्ग उसके लिए खुल गया था और राजा को कर देने के हेतु उसके पास द्रव्य का संग्रह था ।

डेरे पर माता-पुत्र दोनों उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पुत्र बोल उठा—“पिताजी, एक हर्ष के साथ एक विषाद का भी समाचार है हमारे पास। वे दोनों कुत्ते भी मर गये, पर वह मेरी क्यारी है जिसमें हरियाली छा गयी !”

“तब हमारे लिए नगर का मार्ग प्रच्छन्न हो गया। चलो, हम आज ही नगर को चल दें।”

“क्यों चल दें ?” तरला बोली—“उद्दीप्ति के बीजों का छिलका पर्याप्त मोटा है, उसे फूटते कुछ दिन लगेंगे।”

“और धूमिका के अंकुरों को बिना बढ़ाये ही चल दें हम ?”—धूम्रशिख बोला।

“नहीं, गुरुदेव की आज्ञा नहीं है। वह नगर में चले जाने को कह रहे हैं। हमें उनकी बात मान लेनी चाहिए, क्योंकि इस देश का राजा भी उनकी अबज्ञा नहीं करता। उद्दीप्ति और धूमिका के बीज वहीं कहीं पल्लवित कर लेंगे।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

पति-पत्नी दोनों को सम्मत कर लिया उसने। डेरे खोलकर बाँध लिये। सारा सामान बकरी और गायों पर लाद लिया गया। भट्टी तोड़ कर उसका एक-एक पत्थर फेंक दिया गया।

बकरियों का भुंड अपने गले में बँधी घंटियों के मधुर निनाद के साथ गुरुदेव के आश्रम से होकर चला। पीछे-पीछे चल रहे थे पति-पत्नी और पुत्र, चक्रकांत के पदांकों पर ही पद-निक्षेप करते हुए।

परंतु गुरुदेव को भट्टीकार की वह विजय-यात्रा कुछ भी आकर्षित न कर सकी। चिर प्रतीक्षा के बाद उनका शिष्य उसी समय मेखला के पास से लौट आया था।

अन्य शिष्य लुक-छिपकर पिष्ठकूटक की उस विदा पर सत्पूष्ण दृष्टि डाले हुए थे।

शिष्य के मुख के भाव और उसके शरीर की गति में उसकी विजय प्रतिफलित थी। गुरुदेव दूर ही से उसे देखकर यह सब जान गये।

“बड़ी देर लगायी !”—गुरुदेव ने कहा।

“पर सफल-मनोरथ होकर आया हूँ।”

“क्या कहा मेखला ने ?”

“आपका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर कहा—‘भाता के लिए ही नहीं, गुरुदेव के लिए भी मेरे हृदय में भक्ति है। मैं स्वयं पूजा लेकर शक्ति-पूजा में सम्मिलित होनेवाली थी, अब और भी अधिक उत्साह से आऊँगी।’”

यह अभूतपूर्व विजय गुरुदेव के रोम-रोम में रँग गयी। इस हर्ष के उल्लास में शक्ति-पूजा के आयोजन द्विगुणित उत्साह से आरंभ हुए। उससे पहले शुद्धि हुई।

गुरुदेव ने शिष्य-मंडली से कहा—“वह भट्टीकार यहाँ से विदा हो गया ! उसने पिष्टकूट को निःसंदेह अपवित्र उपकरण और विधियों से फुलाया है। वह भिक्षा में प्राप्त करने योग्य भी नहीं है। उसने अरण्य का सारा वातावरण कलुषित कर दिया।”

गुरुदेव ने पिष्टकूट-भक्ती सब शिष्यों को ताड़ना देकर क्षमा कर दिया। उनके प्रायश्चित्त और आश्रम की परिष्कृति के लिए यज्ञ किया गया ! मंत्र-आहुति, व्रत-पूजा, जप-जागरण द्वारा वाह्याभ्यन्तर शुद्धि की गयी।

दोनों उत्सवों का एक दिन विभक्त न हो सका, पर प्रजा विभक्त हो गयी ! ग्रामवासी राजा की सैन्यशक्ति का भय करते थे और गुरुदेव के त्याग और विजनवास से प्रभावित थे। नगरनिवासियों को वे स्वार्थी, चतुर तथा धूर्त समझते थे। चक्रोत्सव के अलौकिकता और उत्सर्ग-भरे विज्ञापन को वे नागरिकों की चाल समझने लगे। केवल ग्राम के नव-युवक उन रूढ़िवादी बूढ़े पितरों के अविश्वास की हँसी उड़ाने लगे, वे चक्रकांत की प्रतिभा को प्रत्यक्ष फलदायिनी समझते थे। यह उन नव-युवकों का ही उत्साह था, जिससे नागरिकों को चक्रोत्सव की सफलता की आशा थी।

दो उत्सवों की एक तिथि ने ग्राम को इस प्रकार नवीन और प्राचीन दो भागों में बाँट दिया। बड़े-बूढ़े कहते—“धर्म ही संसार में सबसे बड़ी शक्ति है। परंपरागत शक्ति के उत्सव से मुख मोड़ा नहीं जा सकता। चक्र अपने-आप चल भी गया, तो वह भगवान का स्थान कैसे ले सकता है ? चलेगा भी तो वह केवल इंद्रजाल से ही चलेगा। राजा का सिका भी तो चलता है। उसे सँभालकर रखते हैं हम, कभी

चक्रकांत

पूजा तो नहीं करते उसकी। बिना हमारे परिश्रम के चक्की चल गयी तो भी क्या ? आटा ही खाते थे क्या हम ! हम तो तब जाने, जब कोई बिना परिश्रम अन्न उपजा दे हमारे खेतों में। हम नहीं पूज सकते चक्रकांत को। उसने हमारे लिए एक नवीन आवश्यकता उपजायी है और उसी की मूर्ति का साधन दिया। आय-व्यय बराबर हो गया। शेष क्या रहा हमारे लिए ? शक्ति-पूजा धार्मिकता है और यह चक्रोत्सव एक खेल। ग्राम के बालक खेल-क्रीड़ा में अनुरक्त हो सकते हैं, बड़े-बूढ़ों को शोभा न देगी यह बात। शक्ति-माता से विमुख होकर कहाँ जायेंगे हम ?”

ग्राम के युवकों की टोली में से कुछ ने कहा—“चक्र अपने आप चलकर जब हमारा गेहूँ पीस देगा, तब क्या कभी खेतों में हल भी न चला सकेगा ? शक्ति चक्र में है। कहने मात्र की नहीं। देख नहीं रहे हैं हम ? कैसी विचित्र क्रांति उत्पन्न कर दी। इसने हमारे समस्त रहन-सहन में ? शक्ति-शक्ति कह दी, कुछ पाखंड रच, शंख-घंट बजा दिये। बढ़िया-बढ़िया प्रसाद खा गये, घटिया बाँट दिया। भेंट-दक्षिणा समेट ली—हो गयी शक्ति-पूजा। एक पत्ता भी तो हिला नहीं सकते गुरुदेव ! झूठे ही हाथों में जल लेकर आशीर्वाद देने का अनुग्रह या शाप दे डालने की धमकी दिखाते हैं।”

और कुछ युवकों ने कहा—“पूजा-पाठ तो देखा-दिखाया ठहरा। परंतु रात को जो अरण्य में भूतनृत्य होता है, वह अवश्य एक आनंद की वस्तु है। हम तो जायेंगे उसे देखने, चक्रोत्सव तो दिन-ही-दिन में समाप्त हो जायगा।”

“रात को ग्राम में भी नृत्य का प्रबंध किया गया है।” नागरिकों के विशेष प्रतिनिधि ने कहा—“नागरिकों में से कोई नहीं जायगा वहाँ, आप लोगों को भी न जाना चाहिए। सुरुचि और सभ्यता की सीमा के भीतर यहाँ का नृत्य होगा। नगर से अनेक कलाकार, गीत-वाद्य के विशेषज्ञ और कुशल नर्तकियाँ आवेंगी यहाँ। रात-भर अखंड नृत्य-लीला होगी।”

नगर के विभाग नरत्व और नारीत्व के आधारों पर हुए। नर चक्रोत्सव के पक्ष में हुए और नारियाँ शक्ति-पूजा की ओर।

चक्रकांत भी किसी प्रकार मेखला को संकल्प-च्युत न कर सका । जब उसने पत्नी को शक्ति-पूजा की अधिष्ठात्री के पद के लिए मनोनीत पाया, तब फिर आगे कुछ न कह सका ।

महारानी को अधिष्ठात्री के पद से हटाकर गुरुदेव ने एक परंपरा तोड़ दी । नागरिकों से कलह साधकर उन्होंने शक्तिशाली महाराज पर अपनी कोप-दृष्टि निक्षेप की । वह कौपीन और कमंडलधारी महाराज के सैन्य-संग्रह से कुछ भी भय-विचलित न हुआ !

नागरिकों की फिर बन आयी । वरद ने चक्रकांत से कहा—“मित्र, चक्र की शक्ति से समन्वित तुम्हें हम वज्रांक का सबसे बड़ा अपराजित मनुष्य समझते थे । तुम्हें भी अपनी गृहिणी के सम्मुख हार खानी पड़ी । चक्रकांत, मेखला पर कोई चक्र न चल सका तुम्हारा ।”

“श्रेष्ठी-कुल-ललनाओं की विजय ने हो उसके मस्तक पर भी मुकुट बाँधा ।”—हँसकर चक्रकांत बोला ।

“क्या होगा अब ?”

“ग्रामों की सद्भावना अधिकृत कर चले हैं आप, महाराज को भी वशीभूत कीजिए । जिस महारानी को गुरुदेव ने तिरस्कृत किया है, आप क्यों न उनके हाथ से चक्रोत्सर्ग संपन्न करें ?”—चक्रकांत ने कहा ।

अनेक लोगों के यही विचार थे । सब इसपर एक मत हुए ।

पिष्ठकूटक जब अपने स्त्री-पुत्र और पशुओं को लेकर ग्रामों से होकर मधुर घंटियाँ बजाता हुआ नगर की ओर धावमान था, तब अनेक ग्रामीणों ने उसे ग्रामजीवी समझ वहीं रहने का आग्रह किया; पर वह हँसा और उनकी उपेक्षा कर आगे बढ़ गया ।

उन्हें क्या ज्ञात था, नगर प्राचीरों से परिवेष्टित है, उसके भीतर मार्ग बना लेना अरण्य और ग्राम सदृश सुगम नहीं है ।

नगर के द्वार-रक्षक ने रोक लिया उन्हें । भट्टीकार ने उसे पिष्ठकूट का स्वाद चखाकर अपने कौशल और व्यवसाय का परिचय दिया । प्रहरी बोला—“निःसंदेह तुम्हारा पिष्ठकूट अद्भुत है, पर नगर में पशुओं को ले जाने की आज्ञा नहीं है ।”

“पशु नहीं रहते वहाँ, तो फिर दूध-मिठाई का प्रबंध कैसे होता है ?”

“पशु प्रतिबंध में रहते हैं वहाँ, दूध गाँवों से जाता है । नगर की

चक्रकांत

स्वच्छ पथ-वीथियों में तुरुहारे पशु गोबर कर देंगे और उसके मनोहर पुष्प वनों को गंदा कर देंगे तो ?”

भट्टीकार ने कुछ चमकती मुद्राएँ प्रहरी के हाथ में रख दीं—“प्रति-बंध में मैं भी रक्खूँगा उन्हें। मेरा पिष्ठकूट विश्वविजयी है। मैं निश्चय श्रेष्ठियों को वशीभूत कर लूँगा, तो वे मेरे पशुओं के खुल जाने पर भी उपेक्षा कर देंगे। यह सामान इनपर लदा है। इसे नगर में पहुँचाकर इसी मार्ग से इन्हें नगर के बाहर कर दूँगा। इनकी सुंदर और स्वस्थ जाति के लिए ग्रामों में आप-ही-आप अनेक ग्राहक मुझे मिल चुके हैं।”

प्रहरी शिथिल पड़ गया। पिष्ठकूटक नगर में प्रविष्ट हो गया। वह वरद श्रेष्ठी के पास पहुँचा और उसने अपने पिष्ठकूट तथा वाक्चा-तुरी से उसकी मैत्री प्राप्त कर ली। वरद उसे चक्रकांत के पास ले गया। चक्रकांत भी उसकी ओर आकर्षित हो गया और बोला—“श्रेष्ठिवर, मेरी चक्री यदि गेहूँ का आटा बनाकर प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई है, तो उस आटे को पिष्ठकूट बनाकर इस भट्टीकार ने धन्य कर दिया है। चक्रोत्सव में इनकी दूकान जानी चाहिए। इनका प्रचार होगा ही, ग्रामीणों के लिए भी एक नया स्वाद मिलेगा चखने को।”

वरद को यह स्वीकृत हुआ। पिष्ठकूटक के भाग्य खुल गये। उसे नगर में बसने के लिए प्रत्येक सुविधा दे दी गयी। नगर के बाहर एकांत में वरद का एक उद्यान था। वह भट्टीकार को नाममात्र के किराये पर दे दिया गया। उसे पशुओं को रखने की आज्ञा भी मिल गयी।

उत्सव का दिन निकट आया। नगर की जो स्त्रियाँ जा सकती थीं, उनके मुख अरण्य के पथ में ही थे। ऐसे ही ग्राम के बड़े-बूढ़े स्त्रियों के साथ अरण्य की ओर ही आकृष्ट थे। चक्र के उत्सव ने भीड़ बढ़ा ली हो; पर रूप, रंग और चैतन्यता का केद्र शक्ति की पूजा ही बन गयी। महाराज उदासीन होकर रह गये। गुरुदेव की उपेक्षा ने उनके पैर बढ़ने न दिये उधर। महाराज निश्चित रूप से शक्ति-पूजा में रुग्णावस्था में भी अनुपस्थित नहीं रहते थे। प्रति वर्ष शक्ति के शस्त्ररूप की पूजा वही करते थे। देवी का पुराना खड्ग उन्हें आशीर्वाद रूप से मिलता और नया खड्ग वह अपने हाथों से माता को भेंट चढ़ाते थे। महाराज ने भी साहस किया और उस परंपरा को तोड़ डाला। पूजा तो महा-

रानी ने परिपूर्णता के साथ संबंधिनियों और दास-दासियों के हाथ भेज दी, विशेषता के साथ कि महाराज का अभाव ढक जाय। महाराज ने नवीन खड्ग बनवाकर रक्खा था, परंतु भेजा नहीं। राज-भवन में भी तो शक्तिमाता की प्रतिमा थी। उसी को हाथ जोड़कर महाराज प्रद्योत बोले—“हे जगन्माता ! तुम कहाँ नहीं हो ? केवल अरण्य में ही तुम्हारा निवास हो, यह गुरुदेव का अहंकार है। हे माँ ! तुम सर्वत्र हो। तुमसे वैर बढ़ाकर कहाँ रह सकूँगा ! गुरुदेव के लिए भी मन में कोई अवज्ञा नहीं रखता हूँ। जब वही हमका नहीं चाहते हैं, तब फिर क्यों उनका रोष बढ़ाने वहाँ जाऊँ ? अतएव हे विश्वमाता ! शक्ति के संचय का अपना खड्ग यहीं तुम्हें समर्पित करता हूँ।”

महाराज ने वह नवीन शस्त्र राजभवन में ही माता को समर्पित कर दिया। चक्र के उत्सव में सम्मिलित होने को भी उनके पैर न बढ़े ग्राम की ओर। गुरु से विभक्त होकर महाराज कृषक से मेल बढ़ाना भी नहीं चाहते थे। इसलिए जब अरण्य और ग्राम जनाकीर्ण होकर सजीव हो रहे थे, तब वज्रांक के महाराज उस शून्य राजधानी में अपने मन की विषण्णता बढ़ा रहे थे।

चारों ओर से एक भयानक भीषण आँधी को उठता हुआ देख रहे थे वह। राजधानी ही उनका लक्ष्य था। गुरुदेव ने राजा की मान्यता नहीं रखी और चक्रकांत नगरों को लक्ष्मी का निवास बनाता जा रहा है। कृषकों ने भी यदि राजा का भय मानना छोड़ दिया, तो अपने राजत्व को कैसे सुरक्षित रख सकेंगे, यही महाराज की चिंता थी।

जैसी भीड़ जोड़ लेंगे सोचा था चक्रकांत और श्रेष्ठियों ने, वैसी तो एकत्र नहीं हुई; फिर भी बहुत-से लोग आ गये थे। राजा के आश्रित—सेना और सेवकों में से तो कोई भी नहीं आया था। महारानी के जाने पर भी उन्होंने राजा की उस ओर तनी भौंहों को देख लिया था। वे अकारण ही राजभक्ति की अवहेलना करने को प्रस्तुत न थे। धार्मिकता सर्वोपरि और निर्दोष वस्तु, अरण्य में महाराज और महारानी किसी के न जाने पर भी राजधानी से अनेक स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी पूजा लेकर निर्वाध होकर चले गये।

नदी-पुलिन-स्थित एक वृद्धि-संपन्न ग्राम में चक्र-उत्सव का आयो-

चक्रकांत

जन किया गया था। ग्राम का उत्तरी भाग छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरा था। वहीं से नदी नाचती-झुलती ग्राम में प्रवेश करती थी। जल-चक्र के लिए बहता पानी आवश्यक था और बहाव भी ऊँचे पर से गिरनेवाला वेग-भरा। यही सुविधा प्राप्त करने के लिए वह गाँव छाँटा गया था।

नदी से एक छोटी नहर काटकर चक्र से संबद्ध कर दी गयी थी। चक्र, चारों ओर बल्लियाँ गाड़ उनपर वस्त्र बाँधकर ढक दिया गया था। किसी भी अन्य व्यक्ति पर वह रहस्य अभी तक प्रकट नहीं किया गया ताकि उसकी महिमा एक साथ खुले जनता पर। थोड़ा-थोड़ा कर उसका भेद खोल देने से उनका प्रभाव घट जाने का भय था।

चक्र के निकट एक सुविशाल ऊँचे मंडप की रचना की गयी थी। वहाँ महारानी कनक सिंहासन पर विराज रही थीं। चार दासियाँ उनकी परिचर्या में प्रत्येक क्षण के लिए प्रस्तुत थीं। एक चँवर डुला रही थी, दूसरी पंखा झल रही थी। मंडप के निचले खंड में नगरों के संभ्रांत श्रेष्ठीगण बैठे थे, अनेक ग्रामों के प्रधान भूमिपति भी उनमें सम्मिलित थे। नीचे धरती पर चारों ओर मंडप की परिक्रमा पर एक पर्याप्त चौड़ा पथ बनाया गया था, जिसमें से एक पथ उत्सव के बाहरी भाग को जोड़ता था और दूसरा जल-चक्र की ओर ले जाता था। वहाँ से फिर वह पथ निकट की एक पहाड़ी से जाड़ा गया था। वहाँ भी पदों की ओट में छिपाकर प्रदर्शन के लिए ही कुछ था। चक्रकांत उन दोनों स्थानों में ही परिभ्रमण कर रहा था, कदाचित् उसके प्रदर्शनों में कुछ सुधार शेष था।

पहाड़ की चोटी पर से उतरता हुआ वह मार्ग फिर उत्सव के बाहरी भाग से ही जुड़ गया था। बाहरी भाग में कई प्रकार के खेल-कौतुक रचे गये थे। कहीं स्वांग और नाटक हो रहे थे, कहीं गीत-नृत्य। कहीं बंदर-भालू का नाच हो रहा था, कहीं कोई जादू के खेल दिखा रहा था। कहीं पर झूत-क्रीड़ा रची गयी थी। एक स्थान पर चक्रकांत के बनाये हुए चक्रों में काष्ठ के वाहनों में चढ़कर लोग चक्र काट रहे थे। एक स्थान पर नागरिकों ने अपनी-अपनी दूकानें सजा रखी थीं। कहीं बर्तन-वस्त्र, कहीं खेल-खिलौने, कहीं शृंगार-सज्जा और कहीं खाने-पीने का सामान।

कितु उस उत्सव में उसकी शोभा, उल्लास और जीवन की प्रवर्तिका कोमलांगी नारी का नितांत अभाव अतिशय खटकता था सबको। शून्य और कृत्रिमता-भरा प्रयास होकर रह गया था वह। नृत्य में नाचता हुआ केवल नारी का वेश था। दूर से चाहे किसी को धोखा हो जाय, पर निकट आकर कोई भी नृत्य-बालाओं की उगती या काट डाली गयी मूँछों को देख सकता था।

उस देश की समस्त महिलाओं की प्रतिनिधि-स्वरूपिणी होकर केवल एक महारानी ही मंडप में अपना अस्तित्व रखती थीं। कभी-कभी महारानी की मुख-मुद्रा से प्रकट हो रहा था, कदाचित् वह उस पुरुष-समूह में एकाकिनी वंदिनी-सी अपने को समझ रही हैं।

मंडप को चारों ओर से घेरनेवाले पथ में उत्सवकारी नाचते-गाते घूम रहे थे। लोगों के उस प्रवाह में, दृश्यावलि के निरंतर परिवर्तन-शील होने के कारण मंडप में बैठे हुए लोगों का मनोरंजन हो रहा था। महारानी भी आकृष्ट थीं। श्रेष्ठियों को सबसे बड़ी चिन्ता उन्हीं की थी। उत्सव के विशिष्ट मुहूर्त्त में अभी कुछ विलंब था।

एक प्रमुख स्थान पर पिष्ठकूटक ने भी अपने पिष्ठकूट सजाकर दूकान खोल रक्खी थी। उसके स्त्री-पुत्र भी उपस्थित थे वहाँ।

घंटा बजा-बजाकर पिष्ठकूटक अपना विज्ञापन दे रहा था—“मधुर, दर्शनीय और सुवासित पिष्ठकूट ! इसका स्वाद चखो तो फिर तब पर की रोटी रह जायगी। बहुत सुलभ है आज के दिन केवल। मेले को स्वादिष्ट बनाने के लिए केवल आज आधे मूल्य में मिलेगा, आधे दाम नगर के श्रेष्ठियों ने दे दिये हैं ग्रामवासियों का सद्भाव जोतने को। पिष्ठकूट खाओ—नाप-तोल में एक-सा, इससे तुम्हारे विचार भी एक-से हो जायँगे। पिष्ठकूटों में कोई भेद नहीं है। यह नगर और ग्राम के आपस का भेद-भाव भी दूर कर देंगे। इन्हें खाकर स्वास्थ्य-लाभ करो, रोटी पकाने का कोई खटका नहीं, विश्राम के लिए अधिक समय निकालो—जीवन का स्तर ऊँचा करो।”

वह छुरे से काट-काटकर बनाता भी जा रहा था—“ऐसे छुरे से इसको काटो, बराबर टुकड़ों में—”

“और फिर इस उद्दीप्ति में भिगाकर खाओ, ऊपर से इसी की एक-दो गरम-गरम घूँट पी लो।”

निकट से ही, मिट्टी के पात्रों से गरम-गरम पानक रखती हुई तरला कहती—“इसे पीते ही कुछ-से-कुछ बन जाओगे। यह दुर्लभ पानक श्रेष्ठि के विशेष आग्रह पर ही यहाँ लायीं हैं। इसका भी आधा मूल्य तुम्हारे बदले श्रेष्ठि ही देंगे।”

“और मेरी यह धूमिका ! पिष्ठकूट के पश्चात् उद्दीप्ति की तप्त घूँट और फिर मेरी यह नील धूमिका। एक फूँक पीते ही पतझड़ से वसंत खिल उठेगा। ये तो बहुत ही परिमित संख्या में हैं मेरे पास। जो चाहे, उसे नहीं मिल सकता यह। जिसे मैं चाहूँगा, उसे ही दूँगा—एक प्रतिशत। फिर इसका मूल्य आधा है या दूना इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।”—धूम्रशिख भी अपना राग अलापता।

पिष्ठकूटक कहता—“पिष्ठकूट भूख को भगाता है।”

तरला पुकारती—“उद्दीप्ति आलस को विदा करती है।”

और धूम्रशिख स्वर में स्वर मिलाता—“और मेरी यह धूमिका, यह भय को दूर करती है।”

पिष्ठकूटक—“अधिक पिष्ठकूट खाओ और चूल्हे-चौके की लीपापोती से छुट्टी पा जाओ।”

तरला—“मेरी उद्दीप्ति तो समाप्त होने को है, अब सभी को नहीं मिलेगी। परन्तु यह दूध से अधिक सस्ती और अमृत से अधिक गुणकारी है। यह गरमी में ठंडक और सरदी में गरमी उपजाती है।”

धूम्रशिख—“और यह धूमिका—वात, पित्त, कफ, तीनों के दोष मिटाती है। सबको नहीं मिलेगी अभी। बड़ी दूर से लाया हूँ। यदि यहाँ बनने के साधन जुट गये, तो फिर सभी का भाग है।”

एक कृषक उन तीनों का भाषण सुन रहा था। द्रव्य मुट्ठी में था सही उसके। वह भट्टीकार के सामने जाकर बोला—“छुरे से काटकर क्यों खावें पिष्ठकूट को ? दाँत तो हैं हमारे।”

“विचारों में समता आवेगी इससे तुम्हारे। यदि छुरे में तुम्हारे धार नहीं है, तो चक्रकांत मनीषी को धन्यवाद दो। उसने छुरों में धार चढ़ाने का भी तो एक पत्थर का चक्र तुम्हारे लिए बना

दिया है। इस उत्सव में भी तो एक आया है।”—पिष्टकूटक बेला ।

“लाभ क्या है ? हाथ से भी तो टूट जायगा ।”—कृषक ने कहा ।

“परिष्कृत रुचि का निदर्शन है छुरे से काटना । हाथ से तोड़कर खाना बबरता है ।”

कृषक की सरलता पर बड़ा व्याघात-सा पहुँचा । वह बोल उठा—
“हाथ से तोड़कर खाना एक स्वाभाविकता है । बबरता है छुरे से काटकर खाना । तुम मांसभक्षक जाति के जान पड़ते हो । हम किसान शाकाहारी हैं । पिष्टकूट मे तो तुमने कुछ नहीं मिला रक्खा है ?”

“शुद्ध अन्नाहार है । श्रोष्ठ्रियों के सैकड़ों प्रशंसापत्र मेरे पास हैं ।”

“पर तुम्हारा पुराना अभ्यास गया नहीं जान पड़ता है, जो रोटी को भी छुरे से काटकर खाना सिखाना चाहते हो हमें । छुरे से काटने को भला ऐसी कौन-सी कठिनाई है रोटी के भीतर पत्थर की गुठली-सी ?”

“तुम जंगली ही रह जाना चाहते हो, तो मैं क्या करूँ ? पिष्टकूट मोल लेना है, तो दाम निकालो ।”

“परन्तु मैं तो हाथ से तोड़कर खाऊँगा ।”

“मेरे दाम मिल गये, तो तुम चाहे जो करो ।”

कृषक एक पिष्टकूट क्रय कर तरला के निकट गया—“ऐसे ही एक भ्रम तुम भी फैला रही हो सुंदरी । मुझे तुम्हारे पानक के गुणावगुण के बारे में तो कुछ कहना नहीं है । पर यह गरमी भी और सरदी भी, ये दोनों कैसे पहुँचा सकती है ? तुम इसके मसालों में या आँच में कुछ घटाती-बढ़ाती होवोगी अवश्य, तभी तो !”

“एक मात्रा, एक हाथ, एक आँच—कुछ अन्तर नहीं !”—तरला बोली ।

“आश्चर्य है !” कृषक ने अपनी ठुड़ी पर तर्जनी रखकर कहा—

“एक ही वस्तु, फिर कैसे गरमी और ठंडक दोनों पहुँचाती है ?”

“तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो दे दूँगी मैं, पर पानक न दूँगी ।” तरला बोली—“सुनो, दीपक एक ही है, उससे भवन में प्रकाश भी फैलता है, और वही क्या आग भी नहीं लगा दता ? जगत विश्वास का फल है । यदि तुम्हारे विश्वास नहीं है, तो उद्दीप्ति न गरमी न ठंडक,

चक्रकांत

कुछ भी न पहुँचा सकेगी तुम्हें। सच तो यह है, एक नवीनता का परिचय देने आयी हूँ मैं यहाँ, व्यवसाय के लिए नहीं।”

धूम्रशिख बोल उठा—“तार्किक के साथ मैं तो बात भी नहीं करता।”

कृष्ण केवल पिष्टकूट को सूँघता हुआ चला गया। मन में सोचने लगा—“साग-भाजी ता हम छुर से छीलते ही हैं, फिर रोटी काटने से कौन-सा धर्म चला जायगा?” वह नव वय का कृष्ण अपने अंचल में नवीन रोटी पचाने के लिए तथा अपने मस्तिष्क में नया विचार उगाने के हेतु लेकर उत्सव के मंडप की ओर चला गया। उधर चहल-पहल बढ़ने लगी थी।

कुछ कृष्णों ने उत्सव के एक प्रबंधक से पूछा—“नर्तकियाँ नहीं आयीं अभी तक!”

वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो रही हैं। आती ही होंगी। फिर उनके नृत्य के चरण। वे दौड़कर थोड़े आ सकती हैं। आ रही होंगी धीर-मंथर गज की गति से। नृत्य तो रात की वस्तु है। रात ही में आधिक जमता है। उत्सव के प्रधान कर्म पर सावधान होवां मंडप की ओर। चक्र को देखो, उस चक्र को जो प्रकृति की शक्ति से अपने आप चल जायगा। अब महाराज्ञी का उसका रत्सर्ग करने में कुछ भी विलंब नहीं है। मंडप में कार्यारंभ का घन्टा बजने ही वाला है अब।”

युवकगण उधर ही दौड़ पड़े। मंडप में घन्टा बजने लगा। जनता का प्रवाह रुक गया और वे शांत होकर सुनने लगे।

महारानी ने ठठकर भाषण दिया—“नगर और ग्राम के बीच में कुछ वैमनस्य फैल गया था। वह हमारे राष्ट्र के लिए शुभकर नहीं है। “नगर और ग्राम, ये दोनों एक दूसरे के आधार हैं, प्रेरक और पूरक हैं। बिना एक के अस्तित्व के दूसरे की सत्ता असंभव है।” चक्रकांत एक महामानुष हैं, इसमें अब कोई संशय नहीं करना। उन्होंने यहीं अपना घर बना लिया है, इससे अब उनकी वैदेशिकता भी हमारे विश्वास की वस्तु हो गयी है। वह नागरिक हैं अवश्य, पर उनकी आयु के समस्त चिंतन, अध्ययन और कर्म ग्रामीणों की सुख-सुविधा के लिए ही नियोजित होते हैं। उन्होंने तुम्हारे लिए चक्की बनायी। अब उन्होंने

दो और चक्कियाँ बनायी हैं। उनमें अब तुम्हें हाथ से परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। वे स्वयं चलेंगी—एक पानी से और दूसरी पवन से। ग्रामों के नाम पर नगर की ओर से मैं इन दोनों का उत्सर्ग करती हूँ। भगवान् इनके द्वारा हमारे राष्ट्र को समृद्ध करें। इनको देख-देख कर इनका निर्माण कर लेना कुछ कठिन नहीं। फिर भी चक्रकांत महोदय तुम्हें प्रत्येक प्रकार की सुविधाएँ पहुँचाने को सदैव तत्पर रहेंगे। समस्त ग्रामों के मंडलों में इन चक्कियों को फैला देना अब तुम्हारा परम कर्तव्य है। चक्र की जय !”

उत्सव के प्रबंधकों ने महारानी के चक्र तक जानें के लिए मार्ग में वस्त्र बिछा, उसकी भीड़ एक ओर कर दी थी। मंडप से उतगर महारानी चक्र के निकट गयीं। वहाँ जाकर उन्होंने डंगरी खींचकर आबरण हटा दिया।

चक्र अपने-आप चल रहा था। केवल उसमें गेहूँ रखने और आटा थैलों में समेट लेने का श्रम ही मनुष्य के लिए था। इसे देखकर सारी जनता ने आश्चर्य के साथ दाँतों में डंगली दी। सब बोले—“चक्र की जय !”

वहाँ से महारानी पहाड़ी के शिखर पर गयीं और उन्होंने पवन-चक्र का उद्घाटन किया। वहाँ चक्की में चार विशाल पंखे जुड़े हुए थे, जो पवन के वेग से बाहर धरती के समकोण पर बड़ी तीव्रता से घूम रहे थे और भीतर लोहे के दाँतों द्वारा उनका संबंध पत्थर की चक्की से किया गया था। वह भी अविराम वेग से घूम रही थी। दर्शक देखते ही रह गये।

अनेक ग्रामीणों ने उन चक्कियों पर पुष्प और भेंट चढ़ायी। बहुतों ने उनको साष्टांग प्रणाम किया। कुछ ने कौशल की प्रशंसा का। कुछ कहने लगे—“जादू है।”

दर्शकों की भीड़ लग गयी। जो जाता, देखता ही रह जाता। प्रबंधकों ने कहा—“आगे बढ़ो, तुम्हें ही तो दे दिये गये हैं ये। अब नित्य ही देखा करोगे इन्हें। चलते रहो, रुको मत। अभी पीछे देखनेवाली बहुत भीड़ है।”

दर्शन कर जानेवाले कुछ लोग बोले—“चक्की स्वयं चल गयी,

चक्रकांत

इसमें कोई संदेह नहीं। पर चक्री के पास हाथ से हाथ बाँधे हम वहाँ करेंगे क्या ?”

“कोई और काम कर लेना !”

“और वहाँ कौन-सा काम ? हल थोड़े जुतेगा वहाँ ?”

प्रश्नकर्ता की उक्ति पर तीसरा एक चिढ़ उठा, बोला—“वहीं बैठे-बैठे नाक बजाना और क्या ?”

कुछ लोगों ने फिर प्रबंधकों से प्रश्न किया—“नर्तकियाँ कब आयेंगी ?”

“आती ही होंगी। सारंग से गले का स्वर और मृदंग से पैरों की भंकार मिला रही होंगी। संध्या समय तक आ जायँगी।”

“संध्या तो होने लगी।”—एक ने कहा।

“तब फिर क्या है, उन्हें भी आयी ही समझो।”

चक्रोत्सव की विधि समाप्त कर फिर महारानी एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरें वहाँ। लौट गयीं। दासियों से उन्होंने कहा—“ग्राम तक आकर भी क्या माता के दर्शन करने न जाऊँगी अरण्य में ? इसीलिए तो मैंने शीघ्रता से चक्रोत्सव संपन्न किया।”

‘रात हो जायगी।’—एक दासी ने कहा।

‘तो जाने दो। साथ में पर्याप्त शरीर-रक्षक तो हैं। माता से विमुख कदापि नहीं हो सकती मैं। प्रतिवर्ष मंदिर में सारी रात दीपक हाथ में लिये माता के आशीर्वाद के लिए उनकी अभ्यर्थना करती हूँ, मैं उस व्रत को नहीं तोड़ सकती। गुरुदेव ने मेरी उपेक्षा की है, तो करें; मैं अपना नियम न तोड़ूँगी। शीघ्रता करो।’—कहती हुई महारानी शिविका पर आरुढ़ हो गयीं।

शिविका-वाहकों ने द्रुतपग से शिविका शक्ति-मंदिर की ओर बढ़ा दी।

चक्रोत्सव को अरण्य की भाँति रात-भर नर्तकियों के नृत्य से सजीवता दे देने की योजना थी। परंतु दर्शक कहाँ तक स्वयं नाचते। अलौकिकता तभी तक उत्सुकता बढ़ाती है, जब तक वह कल्पना में धूमिल रहती है। उसके प्रत्यक्ष में प्रकट हो जाने पर फिर वह अपना वैचित्र्य खो देती है। जल-चक्र या पवन-चक्र अब किसी के पास भीड़ एकत्र

न रह सकी। उन्हें देखते-देखते उनका कौतूहल मिट गया और वे नृत्य-चक्र को ढूँढ़ने लगे।

प्रबंधकों ने फिर आशा बँधायी—“नर्तकियाँ अभी आती हैं, अभी आती हैं। मेला रात-भर रहेगा। आप लोग मेला दूटने न दें। भोजन की कमी नहीं है। श्रेष्ठियों की ओर से नवीन आटे की हलवा-पूरी सबको भर पेट बिना मूल्य खिलायी जा रही है।”

पर कुछ और प्रतीक्षा के पश्चात् भी नर्तकियों की कोई छाया दृष्टिगोचर न हुई। प्रबंधकों ने नगर को दूत दौड़ाये कि क्या बात है !

बात क्या थी? नर्तकियों के चक्रोत्सव में रात-भर नाचने-गाने की व्यवस्था पक्की की गयी थी। उनके पारिश्रमिक का बहुत-सा पूर्वांश भी उन्हें दे दिया गया था। फिर भी वे उत्सव में अभी तक नहीं आयीं।

बात यह थी—नर्तकियाँ कनक के लोभ में पड़ गयी थीं। कुछ समय पश्चात् उन्हें अपनी भूल स्पष्ट हो गयी। कुछ ने मंत्रणा की—“हमारी अपनी एक कला है और उस कला का जीवन-प्राण उसकी परम्परा है, वह परम्परा गुरु की परम्परा है। हम रोटी आटे के चक्र में गुरुदेव की परम्परा नहीं तोड़ सकती।”

अब तो सब-की-सब कहने लगीं—“गुरुदेव की जय ! हमें माता का आशीर्वाद चाहिए अपनी जीवन-कला के हेतु और बिना गुरुदेव की कृपा के वह असंभव है। हम वहीं नाचती आयी हैं—सुर-गंधर्व-सेवित उस अरण्य में, खेतों में नहीं नाच सकती हम। अरण्य में बिना किसी लालच के ही नाचती हैं, तभी तो वहाँ हमारी कला अपने में ही खिल उठती है !”

एक नर्तकी बोली—“मुद्रा का पूर्वांश जो ले चुकी हैं !”

“खा गयी हैं क्या हम उसे ? लौटा देंगी !”—दूसरी ने उत्तर दिया।

मध्य मार्ग में ही नर्तकियों ने अपने विचार बदल दिये और सब की-सब ग्राम का पथ काटकर अरण्य को ही चल दीं।

दूत प्रबंधकों के पास लौट आया। उसने मुद्राओं से भरी एक थैली उनके सामने रखकर कहा—“श्रीमन् नर्तकियाँ तो अरण्य के उत्सव में चली गयी हैं। यह धनराशि आपको लौटा देने के लिए अपने सेवकों को दे गयी थी।”

प्रबंधकों ने निराश हो श्रेष्ठियों के पास जाकर उनकी निराशा बढ़ा दी। मेले में खलबली मच गयी। दर्शकों में जब यह बात फैल गयी कि नर्त्तकियाँ अरण्य की ओर चल दी हैं, तब कुछ अपने-अपने घरों को लौट गये और अधिकांश शक्ति के उत्सव की ओर बढ़ गये। मेला दूट गया !

उस उखड़ते उत्सव को देखकर वरद ने कहा—“चक्रकांत कहाँ हैं ?”

उनकी खोज की गयी पर उत्सव में कहीं उनका पता न चला। जल और पवन के चक्र अपनी निर्दोष गति से प्रवर्तित थे, पर चक्रकांत उन दोनों स्थानों में से कहीं भी उपस्थित न थे।

वरद ने कहा—“कहाँ गय वह ? उन्होंने तो रात-भर यहीं रहने का निश्चय किया था, फिर ? उनके चक्रों ने उत्सव में अद्भुत रंग जमाया है। अपनी चमत्कारिता से उन्होंने जनता के मन से गुरुदेव का भ्रम बढ़ाया है। फिर उन्हें बिना कहे ही इस विजय के प्रांगण से पीठ दिखाकर भाग जाना क्यों आवश्यक हो गया ? यहीं होंगे, अच्छा तरह उनको ढूँढो।”

कमंचारियों ने उखड़ती हुई भीड़ में उन्हें फिर ढूँढा। कहीं नहीं मिले वह।

वरद ने हँसकर कहा—“निश्चय वह मेखला के चक्र में पड़ गया। बड़ा चिंतित था वह दिन भर, उसका मन कहाँ था यहाँ ! जाने भी दो, चक्र का उत्सव तो निर्विघ्न संपन्न हो गया ! चक्रकांत का प्रभाव जनता पर स्पष्ट ही पड़ा, उनकी गुरुदेव के प्रति भक्ति अवश्य ही शिथिल हो गयी ! नृत्य के आकर्षण से खिंचकर गये हैं वे उस ओर, भक्ति के आह्वान से नहीं। हमने यह विचार कर तो लिया था, पर नर्त्तकियाँ ठीक समय पर छल कर गयीं।”

जो कुछ भी हुआ, पर श्रेष्ठीगण अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। अनेक नागरिक तथा बहुत-से नगर-भक्त ग्रामीणों के साथ, किसी प्रकार उस उत्सव की रात्रि को जागते रहे प्रभात-समय तक।

महाराज्ञी के एक विषम वेदना थी हृदय में ! न राज-वैभव ही उसे संतोष दे सकता था, न चक्रकांत के चक्रों की अलौकिकता ही। मन को भुलाने के लिए ही वह चक्र के उत्सव में सम्मिलित हो गयी थी। कुछ क्षण के

लिए वह भौतिक तत्वों से परिचालित चक्रों के समीप ठहर गयी थी । शीघ्र ही उसने अपने मन में कहा—“चक्र के स्वयं चल जाने से भी क्या ? कृष्ण की श्रान्ति घट सकती है या श्रोष्ठियों की श्रीवृद्धि हो सकती है, हमें क्या ?—मेरे शून्य अंक को भर देने के लिए यहाँ कोई आश्वासन नहीं । गुरुदेव के पास एक सात्वना तो मिलती है, वह उपाय तो बताते हैं । फल की असिद्धि मेरे मानस या जन्म की दुर्बलता हो सकती है, उनका अज्ञान न कहूँगी ।” ✓

सूयास्त पर मंदिर में पहुँच जाने से महारानी प्रसन्न हो उठी—“भगवान् को धन्यवाद है । मैं अपने इतने वर्षों का व्रत अप्रतिहत ही रख सका और मेरे मन में ग्लानि संचित होने, न पायी । गुरुदेव मुझे क्षमा कर देंगे ।”

नगरों और ग्रामों की जन-संख्या से शून्य अरण्य परिप्लावित हो उठा था । अब तो उसका जन-समूह और भी बढ़ने लगा था । गुरुदेव के मस्तक पर विजय का प्रकाश था । मंदिर में दिन भर का कार्यक्रम सोत्साह संपन्न हो गया था । देवी की दिन की पूजा परिपूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी । इतना अपार जन-समुद्र मंदिर के भीतर नहीं समा सकता था और देवी की प्रतिमा भी आधार पर से नहीं हटायी जा सकती थी । इसीलिए मंदिर के बाहरी द्वार पर रत्नासन में महारानी को बिठाकर उनमें देवी का आह्वान और प्रतिष्ठा की जाती थी । नगर और ग्राम की समस्त पूजा उनके चरणों में समर्पित होती थी । प्रजा रानी के मुख के भावों में देवी के आशीर्वादों का अनुमान कर कृतकृत्य हो जाती थी ।

पहले देवी की पूजा उसी के महारानीत्व को समर्पित होती थी । आज उसने पहली बार देखा, मेखला उस रत्नासन पर विराजमान है । गंध-अक्षतों से भरी हुई वह, उसके चरणों पर लोटती हुई पुष्परजि, फल-फूल, दक्षिणा-द्रव्य, वस्त्राभरण हटाते-हटाते शिष्यों का दल दिन भर के परश्रम से परिभ्रान्त हो गया था । पूजा समाप्त हो चुकी थी दिन की । महारानी ने शिविका पर से ही अनुमान लगाया, गुरुदेव मेखला के दैवीत्व का विसर्जन करने लगे हैं ।

वह द्रुतगति से शिविका छोड़ वहाँ जा पहुँची । उसने दूर ही से

पुकारा—“ठहरिए गुरुदेव, अभी एक पूजा तो शेष है।”

गुरुदेव ने मंत्र-भाठ छाड़कर महारानी को ओर दृष्टि की। एक थाली में पूजा लेकर वह उनके निकट आ गयी। उसने सबसे पहले गुरुदेव के चरणों का आशीर्वाद लिया। गुरुदेव के समस्त दिन का अभिमान चूर्ण हो गया—‘महारानी, बड़े धिलंब से आयी?’

“हाँ गुरुदेव, किन अपराधों के लिए आपने मुझे देवी के आधार से परित्यक्त कर दिया। इसी विचार में पड़ी रह गयी। पर आप मुझे उपासिका के पद से विच्युत नहीं कर सकते। देखती हूँ ‘चक्रकांत, महाराज और गुरुदेव की प्रतियोगिता से ऊपर उठ चुके हैं। मैं ‘चक्र की जय’ का नभभेदी घोष सुनकर आयी हूँ, ‘गुरुदेव की जय’ से महाराज की जय प्रतिष्ठित थी। उन दोनों के बीच की शृंखला के टूट जाने से ही तीसरी जय को प्रोत्साहन मिला।”—महारानी ने कहा।

“गुरु की जय सदैव माता के जय की घोषणा है, इसलिए वह कभी कुंठित नहीं होती। इस जनता के समुद्र को नहीं देखा तुमने?”

“इस रत्नासन को तो देख रही हूँ। इसमें विराजमान मेखला चक्रकांत की भावना को अधिक जगाती है। मुझे इसकी स्पर्शा नहीं है। इसी से तो मेखला के चरणों में पूजा-समर्पण करने आयी हूँ।”

“मानवी मानवी की पूजा नहीं कर सकती यहाँ। यदि तुम्हें देवी का इष्ट है, तो शीघ्रता करो, मैं कुछ क्षण के लिए विसर्जन स्थगित करता हूँ।”—गुरुदेव ने दुविधा में पड़ी हुई महारानी के हाथ से पूजा लेकर देवी को समर्पित कर दी।

मेखला हँसती हुई रत्नासन से उठ गयी, गुरुदेव ने जल्दी-जल्दी में विसर्जन के मंत्र पढ़ दिये।

“महारानी। इस दिन भर के रत्नासन की वंदिनी को देखकर तुम्हें दया आनी चाहिए। अब तुम बैठो इसपर।”—मेखला महारानी का हाथ पकड़कर बोली।

“वह केवल देवी का ही अधिष्ठान है।”—गुरुदेव की आज्ञा पाकर शिष्यों ने वह आसन उठाकर मंदिर के भीतर रख दिया।

“गुरुदेव !”—महारानी ने विह्वल होकर गुरुदेव की ओर देखा। गुरुदेव महारानी की पीड़ा को समझते थे। कहने लगे—“यही सोचकर तो मैंने तुम्हें अधिष्ठात्री के पद से हटाकर देवी के उपासकों की श्रेणी में रखवा है। कोई प्रतिशोध नहीं रखता हूँ मैं वज्रांक के राज-वंश के लिए। वह वृद्धि को प्राप्त हो !”

महारानी ने गुरुदेव के चरण पकड़ लिये—“फिर मेरे संतानवती होने की कामना कैसे पूर्ण होगी ?”

“देवीत्व का अधिकरण तुम्हारी बाधा थी, उसे दूर कर दिया मैंने। सारा संसार उसकी संतान है। एक दिन की उस भावना से तुम्हारे वष शून्य रह गये !”

“आपकी आज्ञा का अनुसरण करूँगी।”

“चलो मंदिर के भीतर। ठीक समय पर आयी हो तुम। तुम्हारा चिर-सेवित व्रत अटूट ही रहा। निश्चय इस वर्ष तुम्हें माता के आशीर्वाद प्राप्त होंगे। मैंने देखा है, तुम सारी रात दीपक हाथ में लिये सूर्योदय तक प्रतिमा के सामने खड़ी रह जाती हो, कहाँ पर तुम्हारी भावना टूट जाती है ? फिर क्यों तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण नहीं होती ?”—गुरुदेव ने कहा।

मेखला ने अधीरता के साथ कहा—“मैं नृत्य में सम्मिलित होना चाहती हूँ।”

“नहीं, मंदिर के भीतर तुम्हें शक्तिमयी बुला रही है।”—कहकर गुरुदेव ने मेखला को रोक दिया और महारानी से कहा—“अखंड रख सकोगी अपनी भावना ?”

“हाँ गुरुदेव !”

“मेखले ! तुम भी तो ? नृत्य को चपलता कौशल नहीं है, कठिन है मुद्रा का स्थैर्य !”

“मैं नहीं समझी।”—मेखला बोली।

“महारानी रात-भर हाथों में दीपक लिये खड़ी रह सकती हैं प्रतिमा के सामने। महाराज के इन दोनों उत्सवों की तिथि के विभाजन पर चक्रकांत ने विजय पायी। तुम महारानी को पराजित कर सकती हो इस होड़ में ?”

गुरुदेव ने मेखला की कल्पना अधिकृत कर ली। वह बोली—
“क्यों नहीं ? क्या लाभ होगा ?”

“जो भावना मन में रख सकोगी, वही फलीभूत हो जायगी”।

“महारानी की कौन-सी भावना है ?”

“वज्रांक के लिए युवराज की प्राप्ति। और क्या पुत्र के प्रकाश से तुम अपने गृह की शून्यता नहीं भर देना चाहती हो ?”

मेखला ने लज्जापूर्वक कहा—“और भी तो कुछ माँगा जा सकता है ?”

“क्यों नहीं !”—गुरुदेव ने कहा।

नृत्य के आकर्षण से छुड़ाकर गुरुदेव ने मेखला पर नया ही जाल डाल दिया। देवी से वरदान पाने की ऐसी बलवती इच्छा नहीं थी उसकी, जितनी महारानी के साथ प्रतियोगिता की। वह भी रात-भर देवी के मंदिर में दीपक हाथ में ले स्थित होने का प्रस्तुत हो गयी।

गुरुदेव दोनों को मंदिर के भीतर ले गये। आलस्य के भय से अल्पाहार भी स्थगित किया गया। गुरुदेव तो आठ प्रहर के उपवासी थे। द्वार बंद कर दिये गुरुदेव ने। दोनों को संकल्प कराया गया। दीपकों की प्रातिष्ठा की गयी और एक-एक दीपक अपनी-अपनी अंजालियों में साधकर महारानी और मेखला प्रतिमा के निकट एक-दूसरे के मुख-वर्त्ती खड़ो हो गयीं। बीच में बैठकर गुरुदेव अपनी उपासना में निरत हो गये !

बाहर रुद्ध मंदिर की परिक्रमा पर नृत्य का उल्लास भरा हुआ था। नर्तकियाँ नाच रही थीं, जनता नाच रही थी, स्त्री-पुरुष सब ! शिष्य-मंडली नाच रही थी; भूत-पिशाच, देव-दानव, यक्ष-गधर्वों के वेश में स्त्री-पुरुष नाच रहे थे। किसी ने सिर में साँग बाँध रखे थे, किसी ने हाथों में नख; भाँति-भाँति के रंगों से हाथ-पैर, पेट-पीठ और मुख रंगकर भयानक बनाये गये थे। नाना प्रकार के विकृत वेश रचे गये थे। कहीं सुमधुर राग-रागिनियाँ थीं, तो कहीं विकट अट्टहास्य; कहीं ताल में नृत्य हो रहा था, तो कहीं उजड़ू कूद-फाँद ! मनुष्य के समस्त सुन्दर और असुन्दर दोनों भावों को एक साथ खुली छूट दे दी

गयी थी। कहीं गीत, कहीं क्रंदन ! कहीं विवशता और कहीं नृसंशता, कहीं प्रार्थना और कहीं अत्याचार, कहीं अट्टहास, कहीं हाहाकार !

चक्रकांत दौड़ा हुआ जा पहुँचा अरण्य में और मेखला को ढूँढ़ने लगा। उसने पहचाने जाने के भय से अपने को सिर से पैर तक एक आवरण से ढक लिया था। चारों ओर ढूँढ़ लेने पर जब उसे मेखला नहीं दिखायी दी, तब वह अत्यन्त चिंतित हो गया। “नगर को लौट गयी होगी ?” उसने विचारा—“नहीं, नृत्य के आकर्षण पर तो वह यहाँ आयी है। वेश बदलकर कहीं नाच रही है।”

किसी से पूछने से भी भेद खुल जायगा, यह सोचकर वह फिर चुपचाप नाचनेवालों के बीच में मेखला को ढूँढ़ने लगा।

“हे भगवान ! यह कैसा नृत्य है ? इस वीभत्स की क्या सार्थकता है ? शील बर्बरता के हाथों में दलित होने के लिए छोड़ दिया गया है। इसी से गुरुदेव ने अपना गौरव स्थापित किया है और इसी पर महाराज का मुकुट सुस्थिर है।” चक्रकांत मेखला का ढूँढ़ते हुए बोला—“और इस भीड़ में चक्रकांत ! तेरी मेखला भी तेरे परिचय से दूर के वेश में नाच रही है !”

खोभकर हार गया चक्रकांत। कभी एक का मुख देखता, कभी दूसरे को पहचानता; न खोज सका वह मेखला को। उसके दास-दासियों में से भी कोई नहीं दिखायी पड़ा। हारकर उसने एक बूढ़े कृषक से पूछा—“मेखला कहाँ है ?”

“कौन मेखला ?”

“इस पूजा की रानी !”

“पूजा हो चुकी। अब तो नृत्य चल रहा है नृत्य ! यदि नृत्य के लिए कोई साथी ढूँढ़ रहे हो, तो मैं पकड़ लूँगा तुम्हारा हाथ। सहज ही जहाँ पाँचों भूत नाच रहे हैं, वहाँ ले चलूँगा।”—उसने कहा।

“कहाँ नाच रहे हैं पाँचों भूत ?”—चक्रकांत ने कुछ आश्चर्य के साथ पूछा।

“तुम्हें नहीं ज्ञात है। वे नाच रहे हैं अनाहत गुफा में।”

“कहाँ है वह ?”

कृषक हँसा—“तुम आज ही आये हो शक्ति के उत्सव में !”

चक्रकांत

अपनी नवीनता पर कुछ संकुचित हुआ चक्रकांत—“कौन हैं वे पाँच भूत ?”

“वही. जो यहाँ नाच रहे हैं नर्तकियों के साथ अपनी स्थूलता में। गुफा के भीतर वे अपनी सूक्ष्मता में हैं पाँचों इन्द्रियाँ !”

चक्रकांत कुछ न समझा।

“पर वहाँ कोई इच्छा रखकर नहीं जा सकते तुम; जाओगे तो चोट खा जाओगे। इसलिए चलना है, तो सारी मन की इच्छाएँ निकालकर यही रख जाओ।”

“इच्छाओं से रिक्त मन कब होता है ? मन ही तो वह धरती है, जहाँ कामनाओं के रङ्ग-विरंगे कुसुम खिलते और मुरझाते रहते हैं।”

“अपने मन से धरती कुछ नहीं उपजाती, बीज मत बोओ।”

“बीज पवन में है। फूल न उगें, घास हुई तो क्या ? रिक्त तो नहीं रहा मन ?”—चक्रकांत ने पूछा।

“तुम अविश्वासी हो। सब अविश्वासियों के लिए इस वर्ष ग्राम में उत्सव को रचना की गयी है। तुम्हें वहीं जाना उचित था। चक्र में केवल एक ही भूत नाचता है। वह पयाप्त था तुम्हारे लिए।”—कृष्ण ने कहा।

चक्रकांत ने पूछा—“गुरुदेव मिलेंगे वहाँ ?”

“इस इच्छा पर भी नहीं जा सकते तुम वहाँ। गुरुदेव केवल प्रतिमा तक हैं। गुफा में कोई नियम नहीं, केवल मन में कोई गाँठ न रक्खो।”

“चलो, न रक्खूँगा।”

“आवरण दूर कर दो सारे, तभी तो।”

“आवरण क्या ?”

“यह जो पहन रक्खे हैं अंग पर ! शरीर के आवरण ही मन की ग्रथियाँ हैं।”

“आवरण दूर नहीं कर सकता। मैं उस बीभत्सता में प्रवेश नहीं करूँगा। मेरी कामना है गुरुदेव कहाँ हैं ?”

“मन्दिर में।”

चक्रकांत मन्दिर का द्वार बन्द देखकर लौट आया था। उसे कुछ स्मरण हुआ। वह कृष्ण को वहीं छोड़कर मन्दिर की ओर दौड़ा। मन्दिर के रुद्ध द्वार पर उसे गुरुदेव के शिष्यों ने रोक दिया।

“द्वार भीतर से बन्द है। वहाँ कोई नहीं जा सकता।” एक शिष्य बोला—“गुरुदेव की पूजा में बाधा ल हो।”

“मेखला कहाँ है ?”

“मन्दिर के भीतर।”

अवाक् होकर एक क्षण के लिए ठक होकर रह गया चक्रकांत। क्रुद्ध हो बोला—“वह क्या कर रही है मन्दिर में ?”

“पूजा कर रही है।”

“भूठ बात ! हम केवल चक्र को ही पूजते हैं।”

“माता के एक हाथ में चक्र भी है।”

“मैं नहीं मान सकता यह बात। वज्रांक में चक्र मेरे ही साथ आया है। खोलने ही पड़ेंगे द्वार। मैं चक्रकांत हूँ। मेखला मेरी पत्नी का नाम है। मैं नहीं चाहता, मन्दिर के रुद्ध द्वारों के भीतर वह पूजा करे। खोलो द्वार ! मेखले ! मेखले ! बाहर निकलो ! मैं चक्रकांत हूँ।”—कहकर वह द्वार भड़भड़ाने लगा।

शिष्यों ने बाधा देखकर उसे वहाँ से हटाते हुए कहा—“द्वार किसी की प्रार्थना पर नहीं खुलता।”

“मुझे नहीं पहचानते ? भाँति-भाँति के चक्रों से मैंने वज्रांक की प्रगति बढ़ायी है। मैं चक्रकांत हूँ।”

“चक्रकांत ही क्या, आप स्वयं महाराज भी हों, तो आपके लिए द्वार नहीं खुल सकता।”

“कैसे नहीं खुल सकता !”—बल-प्रयोग कर फिर चक्रकांत द्वार भड़भड़ाने लगा।

अचानक भीतर से द्वार खुल गया। द्वार पर खड़े गुरुदेव दिखाई दिये। उन्होंने कहा—“कौन ?”

चक्रकांत ने उनका प्रश्न मानो सुना ही नहीं। वह मंदिर के भीतर घुसने का प्रयत्न करने लगा।

“नहीं, बिना शरीर और भाव की शुद्धि के नहीं जा सकते तुम भीतर।”—गुरुदेव ने उसे रोक दिया।

चक्रकांत ने द्वार पर से ही भीतर देखा। भूमि पर बिखरे हुए तेल को मेखला एक टूटे दीपक में उठाना चाहती थी। चक्रकांत के कुछ धैर्य

चक्रकांत

बँध गया, जब उसने निकट ही महारानी को भी हाथ में दीपक लिये दंडायमान देखा। उसने पुकारा—“मेखले !”

“तुमने बाधा देकर मेखला की आकांक्षा तोड़ दी और उसका दीपक धरती पर गिराकर निवापित कर दिया !”

“कैसा दीपक ?”

“संतान की कामना से वह दीपक हाथ में लेकर महाशक्ति को प्रसन्न कर रही थी। तुमने द्वार भड़भड़ाकर उसे विचलित कर दिया।”

“और यह महारानी ही हैं न ?”—चक्रकांत ने पूछा।

“हाँ, इन्हें भी युवराज का अभीष्ट है।”

“किसलिये ?”

“राजत्व की अगले पीढ़ियों के लिए।”

“आपकी कुमारता से जब गुरुत्व की परंपरा नहीं टूटती, तब महाराज का संतानहीन होना क्या बाधा है ?”

“मैं श्रेष्ठतम शिष्य को छाँटकर उसे अपनी उपाधि दे जाता हूँ।”

“महाराज क्या प्रजा में से कोई योग्यतम अधिकारी छाँटकर अपना मुकुट नहीं दे सकते ?”

महारानी भीतर सब कुछ सुन रही थी। अचानक उसके हाथ का दीपक भी पृथ्वी पर गिर पड़ा !

मेखला उस दूटे और बुझे दीपक की माया छोड़ पति के संबोधन पर द्वार के निकट आ गयी थी। उसी दशा को प्राप्त होकर महारानी व्याकुल हो गुरुदेव के निकट आ गयी। उसने रुदन के स्वर में कहा—“गुरुदेव !”

गुरुदेव ने पीछे को देखा। सब कुछ समझ गये ! महारानी को सांत्वना देते हुए बोले—“धैर्य रखो महारानी ! जन्म के अंतराल में कारण कुछ भी हों। प्रत्यक्ष में यही चक्रकांत है। इसकी सज्जनता ऐसी है कि इसे शूली नहीं दी जा सकती। इसके निर्वासन से भी कुछ नहीं होगा; क्योंकि चक्र की कीली यहाँ पाताल-लोक तक गड़ गयी, एक नहा अनेक रूपों में—घर-घर !”

“और इस पाखंड पर आप भगवान की इच्छा का निराकरण करते हैं। वज्रांक के केंद्र और परिधि पर के ये दोनों पाखंड नहीं चल सकते अब अधिक दिन ! मेखले ! चलो !”—क्रोधपूर्वक चक्रकांत बोला।

मेखला चुपचाप चक्रकांत के अनुगत हो गयी ।

चक्रकांत ने मेखला का हाथ पकड़ लिया और मंदिर की सीढ़ियों का अतिक्रमण करता हुआ पूछने लगा—“क्या कर रही थीं ?”

“महारानी के साथ एक प्रतियोगिता !”—हँसकर मेखला बोली ।

“उसके सिंहासन और उसके मुकुट की ओर क्या ? तुम चक्री की महिला, तुम्हारे किस वैभव की कमी है ? बिना महाराज के कठिन उत्तरदायित्वों के तुम्हारी संपन्नता है ।”

वे दोनों नृत्य की भीड़ के किनारे एक ऊँचे मंडप में खड़े हो गये ।

चक्रकांत बोला—“कैसा भयानक यह नृत्य है । इसी को देखने की तुम्हारी लालसा थी ? देख लिया ? घृणा हुई ?”

“घृणा कैसी ? जगत का अंधकार भी तो उसका अपना ही है । अंधकार में से ही क्या प्रकाश महिमा को प्राप्त नहीं है ? वह अंधता लक्ष्य तो नहीं है, पर क्या जीवन में दुःख से भेंट होती ही नहीं ?”

“तुम क्या कह रही हो ?”

“तुम्हारी ही ध्वनि से दीपक चूर-चूर हो गया !”

“वह मेरे ही आने से स्वरूप को प्राप्त हुआ मेखले ! मेरे ही चाक पर उसने अपनी निर्दोष गोलाई पायी है । दास-दासी कहाँ है ?”

“शिविका मुझे ज्ञात है । दास-दासियों को नहीं जानती ।”

“दिन भर क्या किया यहाँ तुमने ?”

“देवीत्व का भार वहन किया और समस्त राष्ट्र की पूजा स्वीकार की । सबको आशीर्वाद दिये, परंतु अपने आशीर्वाद-प्राप्ति के समय तुमने बहका दिया ।”

“पंचभूतों का नृत्य नहीं देखा तुमने ?”

“देखता क्या, मैंने तो सुना भी नहीं !”

“यहाँ किसी गुफा में होता है ।” चक्रकांत बोला—“सब नहीं जा सकते वहाँ ।”

“किसी ने झूठे ही बहका दिया तुम्हें । कदाचित् वह तुम्हारे गले की रत्नमालाओं को तुम्हें एकांत में ले जाकर लूट लेना चाहता था । तुम नहीं गये, चक्रकांत तुमने बहुत ठीक किया ! नहीं तो न जाने मैं आज किस दशा में नगर को लौटती ।”

चक्रकांत

“नहीं तस्कर नहीं था वह ।”

“तस्कर ही था । पूजा आरम्भ होने से पहले गुरुदेव ने मुझे आश्रम के समस्त तीर्थों की परिक्रमा करायी । उस गुफा का कोई महत्व होता, तो न जाती मैं वहाँ ? तुमने मंदिर के द्वारों की ओर खिचकर संकट से रक्षा पा ली । तुम्हारी बाधा से जो मेरा दीपक टूट गया, उसे मैं मंगल-चिह्न मानती हूँ ।”

“ठहरो मेखले !” मंदिर की सीढ़ियों पर उतरती हुई महारानी ने कहा—भग्न-मनोरथ होकर हम साथ-ही-साथ इस अँधेरी रात में क्यों न अपने-अपने घरों को जायं ?”


“पर हमारे दास-दासी नहीं मिलते ।”

“मैं दे दूँगी । शिविका कहाँ है तुम्हारी ?”

मेखला ने पति की ओर देखा और उन्हें सम्मत पाया । शिविका के पास दोनों गये, तो देखा भृत्यगण वहाँ गहरी नींद में पड़े थे ।

उन्हें जगाया गया । अपनी शिविका में चक्रकांत और मेखला ने आरोहण किया और अपनी में महारानी ने । प्रकाश-दंड प्रज्वलित हुए और वे एक साथ अपने दल-बल-सहित नगर की ओर चल पड़े ।

नौ

 नेक लोगों का यह केवल भ्रम ही था जो बहूवादी का—चक्रकांत और पिष्ठकूटक की भाँति—वज्रांक में विदेश से प्रवेश मानते थे । बहुत-से उसे श्रेष्ठी-कुल से ही संबद्ध समझते थे । उसके पितर संपन्न व्यवसायी थे । दिनों का फेर आ पड़ा ! उसके किसी पुरखा को कुछ घाटा आ गया, पुत्रों ने धन द्यूत आदि क्रीड़ाओं में समाप्त कर दिया । अविचार, कर्महीनता उनके घर में घुस आयी । कुमति, आलस्य और अव्यवस्था का डेरा पड़ गया । दैन्य, दारिद्र्य तथा दुर्भाग्य उसके होकर वहाँ बस गये !

बहूवादी ने जब अपने पिता के घर में आँखें खोलीं, तब सद्भाव

में अपने चारों ओर रोग, जीर्णता और मलिनता पायी, अभाव में और सारी प्रकृति की संपन्नता। उसके माता-पिता कुछ श्रेष्ठियों की चाकरी करते थे। उनके निधन हो जाने पर वही वृत्ति बहूवादी को भी संभालनी पड़ी।

कठिन श्रम से भी कभी ऊबता न था वह, पर आश्रम की भिक्षा-वृत्ति उसे रुचिकर थी। आश्रम के लिए नहीं, विद्याभ्यास की उसे पिपासा थी। उसका विश्वास था, गुरुदेव उसे अपने शिष्यों में परिगणित कर लेंगे। पर वह अपने माता-पिता को इस बाधा का भी जनक, समझता था। छोटी अवस्था में ही वे उसका विवाह कर गये थे। ब्रह्मचारी का यह द्वैत आश्रम का अद्विजत्व था। मन मसोसकर रह जाता, जब-जब बहूवादी को इसका स्मरण होता। माता-पिता ने उसकी श्रेय-कामना से ही ऐसा किया था। पुत्र के लिए कोई संपत्ति न छोड़ सके थे वे। उसके लिए एक साथी जुटा जाना, उन्होंने अपना परम कर्तव्य समझकर पूर्ण किया।

बहूवादी, यह उसका नाम माता-पिता की कल्पना से उद्भूत नहीं था; पर प्रेरणा की चिनगारी ली गयी थी वहीं से। माता-पिता पुत्र के लिए जिस अनुचरी को लाये थे, उसका नाम बहू था। वे “बहू-बहू” कह उसे पुकारते थे। बहूवादी के कानों में वह गहरा लिख गया था कुछ ही दिनों में, अर्थ का गांभीर्य बहुत दिन पश्चात् समझ पड़ा।

बहू गुण-शील-सम्पन्न गृह-कार्य में चतुर थी। पति के साधारण अर्जन को भी अपनी व्यवस्था से सम और संतुलित कर रख देती। धीरे-धीरे पति बहू की ओर आकृष्ट होने लगा। आश्रम के आकर्षण से उसके जीवन में जो एक ग्लानि उपजती, धीरे-धीरे वह धुलन लगी; बहू का तेजस प्रकाश उसमें भरने लगा।

नगर-निवासियों ने जब आश्रम के ब्रह्मचारियों की भिक्षावृत्ति को निरुत्साहित कर दिया, तब बहूवादी का मन उचट गया। नागरिक था बहूवादी, ग्राम में भिक्षा के आहरण को जाना अपना अपमान समझने लगा। विद्याभ्यास को भी केवल वागजाल और पाखंड का व्यायाम समझने लगा। आश्रम उपेक्षित होकर बस गया उसकी आँखों में।

जिसे बाधा समझा था, वही साधना बन गयी उसके जीवन की। वे चक्र-युग में थे। पति जब अपनी चाकरी में जाता, तब बहू घर पर चक्की और चरखा चलाकर अपने अभावों की परिपूर्णा करती।

लक्ष्य की दुविधा खो गयी पति की। वह एक दिन सोचने लगा—“मैं श्रेष्ठ-कुल-संभूत हूँ। अरण्य से दृष्टि हटाकर मुझे राजधानी की ओर रखनी चाहिए। उस बहिर्मुखता में क्या है ? मैं अंतर्मुख तो हूँगा। मैं अपने श्रम से लक्ष्मी की उपासना करूँगा और अपने दैन्य-दुर्भाग्य के अंक मिटाकर ही सुख की श्वास लूँगा।” वह स्थिर-प्रतिज्ञा हुआ—“बहू की मानसिकता को पाकर मेरा बल बढ़ा है। मेरे घर को उसने स्वच्छ नवीन रूप दे दिया है। यह अकेली समस्त अभावों की पूर्ति होकर आयी है। इसके कारणभूत माता-पिता का व्याज सिर पर है, पर मूलधन तो यही है। इसे कैसे भुलाया जा सकता है।”

उसी की स्मृति को सतत जागरित रखने के लिए पति-देवता ने अपने को उसी दिन से बहूपति के नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

इस भेद को सबसे पहले पत्नी पर ही प्रकट करना उसने श्रेष्ठ समझा। उसने निकट जाकर कहा—“चक्की छोड़ दो थोड़े समय के लिए। अच्छे प्रकार न सुन सकोगी तुम मेरी बात !”

“कहो भी तो।”—पत्नी ने गति मंद कर दी, मुँठ छोड़ी नहीं चक्र की।

पति जाकर चक्र पर बैठ गया—“सुनो, मैं एक हूँ—तुम बहू हो—अनेक ! आज ही तो यह रहस्य समझ पड़ा।”

“अनेक कैसी ?”

“संतान की वृद्धि कर एक को अनेकों में व्यक्त कर देती हो।”

बहू को न रुची यह बात। वह झुंझला उठी—“तुम्हें तो काम के समय प्रहसन ही सूझता है।”

नहीं उठा वह। बात बिना पूरी किये भी कैसे उठता ! कहने लगा—“सुनो, तुम्हें विशेषता देने और तुम्हारा उपकार मानने के लिए आज से मैंने अपना नाम बदल लिया है। माता-पिता के रखे हुए उस नाम का व्यवहार करते हुए तुम्हें लज्जा लगती है, और केवल ‘हे—अहो’ के संबोधनों पर तुम्हारी आर गर्दन मोड़ना मुझे भी असह्य है। सुनो, ११४

आज से तुम अब मुझे बहूपति कहना। क्यों, है न ठीक ? मेरा नाम भी और तुम्हारा भी दोनों साथ-साथ चलेंगे। स्मरण रखना हूँ !”

बहू के होठों से मुख की भरी हँसी फूटने लगी—“मैं चिकोटी काट लूंगी नहीं उठोगे तो। चाकरी पर जाना नहीं है क्या ?”

बहूपति भी हँसता हुआ उठ गया और उसके कंधे पर हाथ रख साग्रह बोला—“अच्छा एक बार अभी कह दो यों ही। मैं सुनना चाहता हूँ, तुम्हें कंठस्थ भी हुआ या नहीं। कहो ‘बहूपति’ !”

“व्यर्थ ही नहीं कहती।”—कृत्रिम रोषपूर्वक पत्नी ने कहा।

“कठिन क्या है ? घाटा ही कौन-सा है ? आधे में तुम्हारा नाम और आधे में मेरा। बराबर का बँटवारा, कम-अधिक कुछ भी नहीं। चार अक्षर, समान रूप से दो-दो अक्षरों के विभाग। तुम्हारे पैर पड़ता हूँ, एक ही बार कह दो ‘बहूपति’। तुम्हारे कंठ से इसका प्रथम उपयोग बड़ा सुरीला सुन पड़ेगा।”

“कह ता दिया, नहीं कहूँगी बिना आवश्यकता।”—वेग से चक्की चलाने लगी बहू दोनों हाथों से।

“अच्छा लो, मैं नौकरी पर जा रहा हूँ।”—बहूपति ने बहू की ओर पीठ फिरा दो डग बाहर की ओर चलकर उच्च स्वर में कहा—“लो, मैं चला गया और तुम्हें अब किसी वस्तु का स्मरण हो आया। लो, पुकारो; अब तो पुकारने की आवश्यकता हो गयी ?”

निःशब्द ही रही बहू।

“तुम्हें कंठस्थ ही नहीं हुआ वह नाम और कोई विस्मरण भी सामने नहीं प्रकटा !”

खिलखिलाकर बहू ने चक्की छोड़ दी और अंचल पर से आटे को झाड़ती हुई कहने लगी—“कर्ण-चक्र ला देना आज।”

“अब आयी हो बन्धन में !” और आगे को बढ़ता हुआ बहूपति बोला—“मैं क्या जानूँ किससे कह रही हो।”

“तुमसे कह रही हूँ, तुमसे।”

“मैं नहीं पहचानता यह ‘तुम’ कौन है। नाम से पुकारो।”

“मैंने पति को नाम से पुकारना नहीं सीखा।”

चक्रकांत

“पर अब अपने चूल्हे, चक्की और चक्र के अवदानों के संग्रह के लिए पुकारना पड़ेगा।”

“भूपति !”—उसने पुकारा।

“यह तो मैं राजा हो गया। मैं राजा होना नहीं चाहता। पुकारो मुझे, विलम्ब हो रहा है, नहीं तो आज ही भूल आऊँगा। आधा नाम तो तुम्हारा ही है।”—बहूपति ने उत्साह बढ़ाया।

“बहू—पत्नी !”—बहू ने अन्तिम अक्षर धीरे-से कहा।

“कुछ बिगाड़कर कहा सही तुमने, फिर भी बड़ा मधुर है।”

“कर्ण-चक्र ?”

“हाँ, हाँ चक्रकांत की विशेष शिल्प-शाला से लाऊँगा। तुम अपने कान कहाँ देख सकती हो, उनका सज्जा बहूपति की आँखों के लिए ही है। लाऊँगा, अवश्य लाऊँगा।”—कहता हुआ बहूपति अपनी नौकरी पर चला गया।

प्रवेश करते ही उसे स्वामी से भेंट हो गयी। “इन्हें ही सबसे अधिक मुझे पुकारना पड़ता है। इन्हीं की बारी है अब। यदि इन्होंने इसे स्वीकार कर प्रयोग आरंभ कर दिया, तो थोड़े ही दिनों में मेरा पक्का नाम यही हो जायगा।” यह समझकर बहूपति सादर स्वामी के सामने स्थित हो गया।

“क्या है संपूर्ण !”—उसके श्रेष्ठी स्वामी ने पूछा।

“यह नाम छोड़ दिया स्वामी ! दूसरा नाम रख लिया है।”

“यह अच्छे स्वभाव की बात नहीं है। तुमने कौन चारी-डकैती की है जिससे नाम बदलते हो ? मैं जानता हूँ, तुम परिश्रम से नहीं डरते, भगवान से डरते हो। फिर तुम्हारे नाम बदलने की आवश्यकता ?”—श्रेष्ठी बोला।

“हूँ हूँ”—अपने दक्षिण वाम पार्श्वों पर झोंकता हुआ बहूपति बोला।

“नहीं, बहीखातों में नाम की काट-छाँट मुझे प्रीतिकर नहीं है। जैसे थे, वैसे ही हो तुम ! फिर नाम बदलकर क्या बदल जायगा तुम्हारा ?”

“पिछले नाम कोटिये नहीं, आगे को यही चलने दीजिए। किसी

को धोखा देने की बात नहीं है। वह नाम अच्छा नहीं लगता, जँचता नहीं।” — गिड़गिड़ाकर नौकर ने कहा।

हँसते हुए श्रेष्ठी ने पूछा—“क्या नाम ढूँढ़कर लाये हो फिर ? कहो भी तो।”

“बहूपति !”

स्वामी का हास्य अट्टता को पहुँचा—“क्या हुआ बहूपति ? नाम सार्थक होना चाहिए। संपूरण में क्या कमी है ?”

बहूपति ने मन में कहा—“नाम का अर्थ तो अवश्य है, पर उसे खोलूँ कैसे इनके सामने।” धीरे-धीरे प्रकट कहने लगा—“श्रीमान् अर्थ भी है। कानों में अच्छा यही लगता है।”

“क्या अच्छा लगता है ?” झिड़ककर स्वामी ने कहा—“सबसे पहले यह अशुद्ध है। इसमें ‘हूँ’ दीर्घ है, वह छोटी होनी चाहिए।”

“नहीं श्रीमान्, बड़ी न छोटी, बराबर होनी चाहिए—सम अधिकार ! ‘बहूपति, बहूपति—बहूऽऽपति !’ जब आप पुकारेंगे, तब बड़ा बढ़िया सुनायी देगा।”

“नहीं, मैं अशुद्ध उच्चारण कर अपनी वाणी को कलंक न दूँगा।”

“वाणी का कलंक असत्य भाषण है।”

“व्याकरण से असिद्ध शब्द भी एक झूठ है। अच्छा, तेरा नाम बहुवादी रख देते हैं। इसमें सत्य क्या नहीं है ? तू बहुत बक-बक करता है, बहुवादी के ही नाम से पुकारा जायगा।”

“‘हूँ’ बड़ा ही करना पड़ेगा। मेरा नाम है, मेरी सम्मति होनी चाहिये इसमें।”

“नाम तुम्हारा है, पर उसका उपयोग तो हम ही करते हैं। वादविवाद न करो अधिक, काम पड़ा हुआ है, जाओ।”

“बहुवादी वा बहूवादी कोई बड़ा अंतर नहीं है !”—मन में विचारता संतोष करता जाने लगा भृत्य। तुरंत ही विकल्प उदित हो गया उसके मन में।

स्वामी ने पुकारा—“बहुवादी !”

सुरीला न जान पड़ा वह संबोधन उसे, विकल्प और भी सघन होने लगा उसके मन में। अनिच्छा से भी जाना ही पड़ा उसे श्रेष्ठी के निकट।

श्रेष्ठी बोला—“हमारे अश्व-चालक से जाकर कहो, कल हमें राजधानी में कुछ काम है। सूर्योदय से पूर्व वह हमारा काला अश्व लेकर यहाँ उपस्थित हो जाय।”

अन्यमनस्कता से उस काय का भार लेकर बहूवादी चलता बना। जाते-जाते विकल्प और भी घनीभूत हो गया। वह कहने लगा अपने मन में—“नहीं, उसकी ‘हू’ को छोटा कर देना उसका अपमान है। वह मेरे गृह की ज्योति है। उसे छोटा कर क्षीण नहीं किया जायगा। नहीं तो!—” ‘हू’ ही रहेगी; यदि वह बराबर नहीं हो सकती, तो छोटी भी होकर नहीं रहेगी। मैं श्रेष्ठी-कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। केवल भाग्य की सहायता ने उन्हें सम्पन्न किया है और मुझे निर्धन। कुलीनता अपरिवर्तनशील बाध्यता है और संपत्ति का स्तूप!—वह मनुष्य के हाथों की रचना है। माता-पिता से सुन रक्खा है मैंने, हमारे पितर भी अट्टालिकाओं में रहते थे। काल के फेर में जब वे अट्टालिकाएँ ध्वस्त हो गयीं तब फिर क्यों नवीन नहीं बन सकती? श्रेष्ठी से जाकर कह दूँ अभी—मैं तुम्हारी नौकरी नहीं करता।”

मन से उत्तर पाने को वह रुका नहीं। मन ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। बहू का हस्त्र होना किसी प्रकार सद्य नहीं हुआ। नौकरी भी यदि इस बात पर चली जाय, तो भाग्य पलटा खा जायगा—ऐसा दृढ़ विश्वास होने लगा उसे। अश्वशाला की ओर चलता ही रहा वह।

नगर के बाहर थी अश्वशाला। वहाँ पहुँचकर उसने स्वामी का कार्य निर्विघ्न संपन्न किया। अश्वशाला से वरद श्रेष्ठी का उद्यान उसे दिखायी देता या नहीं, पर उसमें अब कई भवनों के बन जाने से सहज ही उसकी दृष्टि उधर खिंच गयी। अश्वचालक से उसने पूछा—“कौन रहने लगा है यहाँ?”

“पिष्ठकूट चखे हैं तुमने?”

“क्यों नहीं? बिना घर में चूल्हा जलाये ही उसकी प्राप्ति में सुविधा है, और वह अपने मधुर स्वाद से द्विगुणित वेग से घर-घर फैल रहा है।”

“चक्रकांत के चक्र ही की भाँति, मैं चक्रकांत का ही छोटा भाई समझता हूँ इसे भी।”

“वह गोल मंदिर-जैसा क्या बनाया गया है ? उसमें प्राचीर और छत दोनों एक में मिला दी गयी हैं । बड़ा विचित्र ! अद्भुत !”—बहुवादी ने पूछा ।

“वहीं बनते हैं पिष्ठकूट !”

“घर में नहीं बना सकते हम ? जाने किस मंत्र से फुलाकर हवा भर देता है यह पिष्ठकूट के भीतर ?”

“यह छिपा रहस्य है । उसे और भी ढक देने के लिए इसने उद्यान के चारों ओर प्राचीर उठा दिये हैं ।”

“यह उद्यान श्रेष्ठी वरद का है ।”

“पिष्ठकूट के निर्माणकारी को विलंब नहीं लगा उसे क्रोत कर लेने में । पिष्ठकूट चक्रकांत के चक्रों की भाँति चल पड़े अब तो ।”

अश्वचालक के साथ अधिक बात न कर बहुवादी उधर ही जाने लगा ।

अश्वचालक बोला—“पर उद्यान के भीतर जा नहीं सकते तुम, दीवारों की परिक्रमा चाहे कर आओ । प्रवेशद्वार पर सशस्त्र प्रहरी रहते हैं ।”

परंतु बहुवादी छिन्नसंकल्प नहीं हुआ । वह उद्यान के प्रवेश-द्वार पर पहुँचा और जमो हुई चापों से प्रहरी से ऊँची दृष्टि उठाकर उद्यान के भीतर प्रवेश कर गया ।

पूछते-पाछते सीधे उद्यान के स्वामी के पास चला गया ।

स्वामी अवकाश और भावुकता में अपन परिवार के साथ पुण्य-वन में था । अपरिचित के प्रवेश को दूर ही से रोक दिया—“क्या है ?”

“कार्य से ही तो आया हूँ श्रीमन् !” श्रेष्ठियों के मध्य में सभ्य बहुवादी ने संयत भाव और भाषा में कहा । वह निर्भय होकर पिष्ठकूटक के निकट ही जा पहुँचा ।

स्वामी ने तीक्ष्ण दृष्टि से नख से शिखा तक बहुवादी को निहारा, जो कुछ भी विचलित नहीं हुआ । पिष्ठकूटक ने अपने मन में कहा—“आगंतुक कदाचित् विश्वास किये जाने योग्य है ।” उन्होंने पूछा—“क्या कार्य है ?”

“मैं परिश्रम करना जानता हूँ ! फिर क्यों न मुझे आपके उद्यान में कोई कार्य मिले ?”

“क्या काम करते हो ?”—उससे पूछते हुए उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा ।

“दूत का कार्य करता हूँ । गृह की साज-सज्जा का प्रबंध, हाट का लेन-देन करने में भी स्वामी के विश्वास को बढ़ाता रहता हूँ ।”—बहूपति की शब्दावली में पिष्ठकूटक को सत्य की झलक मिली ।

पिष्ठकूटक ने फिर तरला की ओर दृष्टि की । तरला के स्मित भाव ने सम्मति दे दी ।

“पिष्ठकूटक भी चखा है तुमने ?”—उस दक्ष प्रचारक ने प्रश्न किया ।

“क्यों नहीं ? नगर में जितनी जिह्वाएँ हैं, वे सब पिष्ठकूटक से चिह्नित हैं ।”

पिष्ठकूटक ने पूछा—“क्या नाम है तुम्हारा ?”

“बहुवादी !”—उसने अपने पूर्वस्वामी के संशोधन में अपना ही हठ मिलाकर कहा ।

“बहुवादी !”—गुनगुनाया पिष्ठकूटक ने ।

बहुवादी हर्ष से खिल गया ! उसने मन में कहा—“कोई आपत्ति नहीं हुई इन्हें ! पूर्णतया ठीक उच्चारण किया इन्होंने । यहाँ नौकरी मिल जाती तो ?”

“हमारे पिष्ठकूटक का प्रचार कर सकते हो ?”

बहुवादी के कुछ उत्तर दे सकने के पहले ही तरला बोल उठी—“मेरी ‘उद्दीप्ति’ की भी तो ?” साथ ही धूम्रशिख भी बोल उठा—“धूमिका भी तो ?”

“एक साथ लिया, तो सभी सध गये । जहाँ पिष्ठकूटक पहुँच जायगा, वह उद्दीप्ति को भी खींच लेगा ।”

“और फिर धूमिका का धुआँ, वह अंत में पहुँच ही जायगा; पर मस्तिष्क में सबसे गहरी कील उसी की ठुक जायगी ।”—धूम्रशिख ने कहा ।

उस पारिवारिक तर्क-वितर्क के बीच में बेचारा बहूपति अपनी कर्तव्य-क्षमता के अप्रकाशन से क्षुब्ध होने लगा ।

पिष्ठकूटक ने फिर दुहरा दिया प्रश्न—“कर सकते हो पिष्ठकूट का प्रचार ?”

“कहाँ ?”

“जहाँ नहीं है। राजधानी और नगरों में तो हो चुका है। ग्रामों में ?”—पिष्ठकूटक ने पूछा।

“और अरण्य में ?—वहाँ तो नहीं जा सकता, श्रीमन् ! गुरुदेव से डरता हूँ मैं।”

“क्यों ?”

“मैंने सुना है, वज्रांक में पिष्ठकूट के स्वाद से अनभिज्ञ एक वही गुरुदेव हैं। वहाँ महाराज की मुद्रा भेंट में तो चढ़ती है, पर आपका पिष्ठकूट अभी तक भेंट में भी नहीं चढ़ता।”

“क्यों ?”—समाचार की नवीनता पर पिष्ठकूटक हँसा।

“गुरुदेव कहते हैं, पिष्ठकूट अशुद्ध है। आटे में किसी पशु का रक्त मिलाकर बनाया जाता है। इसने समस्त वज्रांक की प्रजा को भ्रष्ट कर दिया।”

पिष्ठकूटक परिवार-सहित बहूवादी की उक्ति पर काँप उठा। वे सब बहूवादी की ओर खिंच गये। बहूवादी ने उनकी। कल्पना को बंदी कर लिया।

“हमने तो नहीं सुनी यह बात ?”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“मैं झूठ नहीं कह रहा हूँ।” बहूवादी बोला—“आप क्या मिलाते हैं फिर आटे में ? रोटी फूल कैसे जाती है ?”

“यह तो मेरे व्यवसाय का रहस्य है। बता दूँ तो सभी अपने-अपने घरों में न बना लेंगे पिष्ठकूट। कौन मुझे पूछेगा ? परंतु एक बात मैं तुमसे कह देता हूँ बहूवादी ! यही है न तुम्हारा नाम ?”

“हाँ श्रीमन् ! यही है, शुद्ध—आपके पिष्ठकूट ही की भाँति।” फड़क उठा बहूवादी, “मन में बोला, यहीं से पिष्ठकूट की भाँति फैलेगा मेरा नाम भी।”

“हाँ बहूवादी ! कुछ भी अशुद्धि नहीं है मेरे पिष्ठकूट में। एक गुरुदेव के न खाने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। समस्त चेले तो उनके यहाँ तक के आते हैं पिष्ठकूट खाने और उद्दीप्ति पीने।”

तरला पूछने लगी—“तुम्हें खेती के काम का भी कुछ अनुभव है ?”

“नहीं !” सौम्यता से बहूवादी बोला—“मैं श्रेष्ठी कुल में उत्पन्न हुआ हूँ । दुर्दिनों का सामना करने को मैंने कृषि पर आँख नहीं गड़ायी । मस्तक पर भार नहीं ढोया कभी । इसी से शंकित हो उठा हूँ । पिष्ठकूट का भार सिर पर ढोते हुए क्या गली-गली घूमकर उन्हें बेचना होगा ?”

“नहीं बहूवादी, बोझा नहीं ढोना होगा तुम्हें । तुम्हारी योग्यता के अनुकूल काम तुम्हें दिया जायगा ।”

“कुछ अद्भुत विचार के हैं यह गुरुदेव ! चक्रकांत के चक्रों को भी तो इन्होंने अभिशप्त किया था । पर चल न सकी इनकी । चक्की के पिसे आटे, और चरखे के कते हुए सूत को भी अपवित्र कहा था । कैसे फलता दठ ? अब चक्रकांत के चक्र ही नहीं, श्रीमती को भी देवी के सिंहासन में ठिठाने लगे हैं ।”

बड़ी वृत्ति-लाभ की भट्टीकार के परिवार ने । धूम्रशिख बोला—“मैं एक दिन जाकर उन्हें एक धूमिका पिला आता हूँ । आ जायगा मस्तिष्क ठिकाने !”

उत्साहित हो बहूवादी बोला—“मेरी समझ में पिष्ठकूट का प्रचार तो उसके गुणों पर ही परिचालित है । गुरुदेव ने इसपर जो अपवित्रता का कलंक लगाया है, उसके प्रतिकार का प्रचार होना चाहिए ।

पति-पत्नी और पुत्र, सबके सब हृष से उछल पड़े । भट्टीकार ने बहूवादी की पीठ ठोंककर कहा—“धन्य हो, अब मिला मुझे मन के योग्य चाकर ! मैं तुम्हें देखते ही समझ गया था । यह मनुष्य मेरा होने आ रहा है तरले !”

हाँ, मैं चाहती हूँ इनकी नौकरी स्वीकार करने से पहले मैं इनको उद्दीप्ति पिलाकर इनको स्फूर्त बना दूँ ।”—तरला बोली ।

“और मैं भी पिताजी ! मैं भी इन्हें धूमिका चखाकर इनके मस्तिष्क को जागरूक कर दूँ कि यह समस्त दृष्टिकोणों से विचार कर हमारी नौकरी स्वीकार करें कि वह अधिक दिन तक स्थायी हो ।”—धूम्रशिख ने कहा ।

चारों अट्टालिका के भीतर गये। अपने मंडल में ही उन्होंने बहू-पति से भी बैठ जाने को कहा।

वह नहीं माना, बोला—“मैं आपकी नौकरी करने आया हूँ और बहुत दिन तक उसे करना चाहता हूँ। यदि आपने अपने बीच में ही मुझे सम्मिलित कर लिया, तो फिर यह संबंध बहुत दिन न चलेगा।”

“हम तुम्हें अपने परिवार के भीतर का व्यक्ति बना लेना चाहते हैं। सेवक परिवार में सम्मिलित होता क्यों नहीं है ?”—पिष्ठकूटक बोला।

“होता है, परंतु जब तक वह सेवक है, तब तक उसे स्वामी की पंक्ति से दूर ही रहना हागा, नहीं तो सेवा में अंतर आ जायगा।”—बहू-वादी ने कहा।

“पक्की बात है !”—भट्टीकार चिल्ला उठा। उसके मस्तिष्क में नवीन भृत्य के चारित्र्य के अंक गड़े। वह बोला—“अच्छा, जहाँ तुम्हारी इच्छा हा, वही बैठो।”

बहूवादी दूर एक कोने में बैठ गया।

तरला बोली—“आपके तो विशाल भट्टी है, जो वज्रांक में दूर-दूर तक दिखाई देती है। आप तो उसमें समस्त राष्ट्र के उपयोग के लिए बड़ी सरलता से पिष्ठकूटक बना लेते हैं। मेरा छोटा-सा चूल्हा, मैं क्या करूँ ? यदि चूल्हा बढ़ाती हूँ, तो उद्दीप्ति ठंडी हो जाती है, पीनेवालों के पास तक पहुँचने में। दुबारा उसे गरम किया जाय, तो फिर उसमें वह बात ही नहीं रहती।” वह उद्दीप्ति तैयार करने चली गयी।

धूम्रशिख बोला—“मुझे कोई उलभन नहीं। धूमिका ठंडी हो गयी, तो फिर जला ली जा सकती है, जब तक होंठ न जलते हों।”

पिष्ठकूटक ने पूछा—“आजकल क्या तुम्हारी कहीं नौकरी नहीं है ? पिछली नौकरी क्यों छोड़ दी ?”

“काम पर हूँ एक श्रेष्ठी के यहाँ। आप नौकरी देने का वचन भरे, तो उसे आज ही छोड़ सकता हूँ।”

“वचन दे चुका हूँ। पर श्रेष्ठी बुरा तो न मानेंगे ? नगर के श्रेष्ठियों ने ही तो हमारा उत्साह बढ़ाया है यहाँ। हम उनके मन में कोई कुभाव उपजा देना नहीं चाहते। तुम किस कारण पर उन्हें छोड़ोगे ?”

“कारण बहुत स्पष्ट और दृढ़। बात यह है, वह मेरे नाम का शुद्ध उच्चारण जान-बूझकर नहीं करना चाहते। मेरा नाम बहूवादी है। भीतरी अर्थ फिर कभी बता दूँगा मैं आपको। बहू का आशय है बहत। जो बहत होगा, वह तो बड़ा ही होगा, छोटा क्यों हो ?”

“निश्चय !”

“वह कहते हैं, बहू का ‘हू’ छोटा होगा। आपने शुद्ध उच्चारण किया, फिर क्यों न मैं पिष्ठकूट की शुद्धि का प्रचार करूँ जनता में ?” बहूवादी उठकर जाने लगा—“मैं अभी जाकर उनकी नौकरी छोड़ आता हूँ।”

“तुमने जितनी बुद्धि का परिचय दिया, उतनी ही अज्ञता प्रकट न करो, गृहस्व मिनी तुम्हारे जल-पान के प्रबंध को गयी हैं।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“पिष्ठकूट से शरीर की स्थूलता, उद्दीप्ति से उसका रक्त और धूमिका से उसकी हवा शुद्ध और चैतन्य कर लो। उसके पश्चात् जो विचार करोगे, वह अद्भुत होगा, ठीक होगा और पूरा होगा।”—कहकर धूम्रशिख चला गया।

“पिष्ठकूट कैसे बनाते हैं आप ? मेरा अर्थ उसके रहस्य को जानना नहीं है। उसे गुप्त रखकर ही आप जितना मुझ पर प्रकट कर सकते हों, करिए। उसकी विशुद्धता को सिद्ध करना मेरा काम होगा, इसी से विपक्षियों को उत्तर देने के लिए यह सब जानना चाहता हूँ।”

“बताऊँगा तुम्हें। सुनो, गेहूँ के बोरे नगर से क्रीत होकर यहाँ आते हैं। वे बीने, फटके और धोये, जाते हैं। मेरे अनेक चाकर नियुक्त हैं उनके द्वारा।”

“यह तो संस्कृति ही हुई उनकी।”

“उनको फिर जल-चक्र में पीसा जाता है। नदी में से नहर काटकर लाया हूँ मैं उद्यान के भीतर।”

“खेती भी कर रहे हैं आप ?”

“हाँ, पर उसमें तुम्हारा अनुरंजन नहीं, अतः उसका उल्लेख अप्रासंगिक है। फिर एक विशाल उद्योगशाला है मेरी। वहाँ बड़ी-बड़ी परातों में रखकर आटा गूँधा जाता है। कुछ ही समय के लिए

उद्योगशाला से समस्त नौकर हटा दिये जाते हैं और मैं ही अकेला उस आटे में कुछ सम्मिश्रण करता हूँ।”

“आपने गाय-बकरियाँ भी तो पाल रखी हैं उद्यान के भीतर?”

“तुम उनकी गिनती कर उन्हें पहचान सकते हो। वे दूध के लिए पाली गयी हैं। उद्योगशाला में ले चलूँगा मैं तुम्हें। कुछ दिन की ही नौकरी से तुम्हारे सारे संशय कपूर की भाँति उड़ जायँगे। फिर बहुत समय तक आटा फेंटा जाता है। भृत्यगण ही यह सब करते हैं। अब अधिक परिश्रम नहीं करता मैं। फिर बराबर के साँचों में आटा भर दिया जाता है और उस विशाल भट्टी में पका लिये जाते हैं पिष्ठकूट। अब बताओ वे कैसे अशुद्ध हैं?”

“केवल एक गुरुदेव ही तो ऐसा कहते हैं। कुछ उनके शिष्य और कुछ नगर के श्रेष्ठियों में भी उनकी मान्यता है।”

“तुम्हारे श्रेष्ठी क्या कहते हैं?”

“वह तो बड़ी रुचि से खाते हैं। पहले से अब उनका स्वास्थ्य भी पिष्ठकूट-सेवन से अच्छा हो गया है। पर उनकी श्रीमतीजी, वह गुरु के वचनों को अटल सत्य समझती हैं। अंतःपुर की देहली नहीं लांघ सकता कोई पिष्ठकूट के साथ।”

“अच्छा, स्थिति इस प्रकार है।” घबराकर पिष्ठकूट ने कहा—
“और भी तो अनेक घरों में यही बात होगी?”

“है, पर अब आप क्यों चिंता करें। अब बहुवादी आपका नौकर हो गया। वह समस्त राष्ट्र का बहुमत आपकी ओर कर लेगा।”

बड़ा आश्वासित दिखायी पड़ा भट्टीकार, बोला—“पिष्ठकूट के मार्ग की बाधा और उसका उपशम, ये दोनों एक ही साथ दृष्टिगत हो पड़े तुम्हारे व्यक्तित्व में। श्रेष्ठी वरद के अंतःपुर की बात जानते हो?”

“जानता तो नहीं हूँ। जाकर जान सकता हूँ। मैं उन्हीं के कुल का हूँ, उन्हीं के बीच में नौकरी करता हूँ, कहाँ नहीं है मेरी पहुँच उनकी अट्टालिकाओं में?”

तरला की एक दासी ने एक थाली में छुरी के साथ कुछ पिष्ठकूट, चार पात्रों में गरम-गरम उद्दीप्ति लाकर स्वामी के सम्मुख रख दिये और वह चली गयी।

चक्रकांत

तरला ने आकर कहा—“धूम्रशिख कहाँ गया ?”

पिष्ठकूटक ने बहूवादी से पूछा—“तुम्हारे कुटुम्ब में और कौन-कौन हैं ?”

“ठण्डी हो जायगी, पी लो न धूम्रशिख !”—पुकारा तरला ने।

“हाँ तो !”—पिष्ठकूटक बहूवादी के उत्तर की प्रतीक्षा में था।

बीच ही में फिर तरला बोल गयी—“मैं कहती हूँ, उद्दीप्ति समय की तत्परता भी सिखाती है। धूम्रशिख ! समय की तत्परता सीखो वत्स !”

धूम्रशिख भी आ गया।

“केवल एक स्त्री, और उसकी एकता ने ही इस बहूवादी के बहुत्व की वृद्धि की है।”

“वह मेरे पास नौकरी करे, तो कोई हानि है ?”

“पूछ आऊँगा उससे।”—बहूवादी बोला।

“लो बहूवादी !”—कहकर पिष्ठकूटक ने उसे दो पिष्ठकूट और एक पात्र उद्दीप्ति का दिया—“लो खाओ।”

“यहाँ नहीं, स्वामी की ओट में जाकर खाना ही भृत्य की शिष्टता है।”—वह उस कक्ष के बाहर चला गया।

पिष्ठकूटक के परिवार के जलपान का भी समय था वह। वे सब खाने-पीने लगे।

तरला बोली—“अच्छा सेबक तो है यह। इसकी स्त्री को भी बुला लो। उद्यान के भीतर ही इन्हें रहने को स्थान दे देंगे, तो अधिक मनोयोग से हमारा काम चलेगा।”

“यही निश्चय किया है मैंने।”—गृहपति ने उत्तर दिया। तरला और धूम्रशिख ने छोटी-छोटी क्यारियों में जो बीज बोये थे, वे हरित हो उठे थे। उनके हर्ष की सीमा न रही और उन्होंने तुरन्त ही कई विशाल खेतों में अपनी-अपनी खेती आरंभ कर दी थी, जनता की दृष्टि बचाकर।

अब धूम्रशिख को अपनी वस्तु के प्रचार में कोई बाधा नहीं थी, परन्तु तरला बड़ी कठिनाई में पड़ गयी थी। भट्टीकार ने उसे सुझाव देते हुए कहा—“तरले, कोई चिंता न करनी चाहिए तुम्हें। उद्योग समस्त कठिनाइयों को पराजित कर देता है। जब तुम्हारी खेती हरी हो गयी है, तो क्यों न तुम्हारा व्यवसाय सफल होगा ?”

“एक-एक पात्र मैं कहाँ तक बनाऊँगी उसे वज्रांक की जन-संख्या के लिए ?”

“मैं बताता हूँ उपाय । चक्रकांत के जल-चक्र की सहायता लो ।”

“कैसे ?”

“अपने सारे मसाले पीस डालो । घुटे हुए मनुष्य और पिसे हुए द्रव्य को कौन पहचान संकता है ? पानी मिलाकर उसकी छोटी-छोटी गोलियाँ बना लो । जनता को उद्दीप्ति बनाने की युक्ति बता दो । वह गोलियाँ क्रय कर ले जाय, तुम्हारा भेद सुरक्षित रहेगा । लोग अपने-अपने घर चूल्हा जला उद्दीप्ति प्रस्तुत कर गरम-गरम स्वाद चख लेंगे ।”

“हाँ !”—सुनकर चमत्कृत हो गयी तरला—“यह इतना सरल उपाय क्यों नहीं समझ पड़ा होगा मुझे अब तक ? यह बहूवादी बड़े शकुन से आया है हमारे यहाँ । अवश्य इसको स्त्री को भी ले आने को कह दो । हम आज ही इसे रहने को मकान दे दें ।”

इधर ये लोग बहूवादी की बहू के लिए भी अपने उद्यान में घर और नौकरी दोनों बना रहे थे, उधर बहूवादी पिष्ठकूट के ऊपर उद्दीप्ति की उत्तप्त धारा बहा रहा था अपने गले से नीचे । पिष्ठकूट को काटने के लिए एक छुरी दे गयी थी एक दासी ।

“पिष्ठकूट तो था ही हिमालय-सा उज्ज्वल और महान् यह उद्दीप्ति !—यह उत्तप्त सुरसरि की धारा है—यह पिष्ठकूट ही उसके महादेव हैं । इनका यश और व्यवसाय दोनों बढ़ें—मैं क्यों न इनका गण बनकर अपने दुर्भाग्य को चमकाता ? पिष्ठकूट तो छुरी से काटकर भी खाये ही हैं । परंतु इस उद्दीप्ति का नाम आज ही सुना और स्वाद भी आज चखा । कदाचित् बड़े-बड़े श्रेष्ठियों के भाग्य में ही बँटता होगा यह अभी तक ! धन्य हो ! यह तो इस धरती का अमृत-सा जान पड़ता है । इसके गले से नीचे जाते ही एक नवीनता जाग उठी मेरे भीतर ! बाहर काँटों में फूल खिल गये ! कौन है पिष्ठकूट का शत्रु ! यह संस्कार जगाता है, कौन मूर्ख इसे अशुद्ध कहता है !... और उद्दीप्ति !—यह नवीन चेतना देती है, विचारों की सर्वथा एक उज्ज्वल धारा !”—उसने फिर एक बार पात्र जीभ पर रखकर उसमें एकत्रीकृत दो-चार बूँदें और चख लीं ।

दासी को पात्र देकर बहूवादी उठ खड़ा हो गया—“दासी क्या-क्या मिलाया जाता है इस सुधा-रस में ?”

“पानी, दूध और चीनी । इसके अतिरिक्त जो विशेष अंश मिलाया जाता है, वह मेरे लिए अगोचर है । गृहस्वामिनी अपने हाथों से ओट में ही उसे मिलाती हैं ।”—दासी ने कहा । बहूवादी का सत्कार देखकर ही उसके साथ बात कर लेने की उत्सुकता हो गयी थी उसे ।

हँसते हुए धीरे चापों से बहूवादी ने भट्टीकार के कक्ष में प्रवेश किया और उनके सामने एक कोने की ओर हाथ बाँधकर खड़ा हो गया ।

“क्यों, कैसी है उद्दीप्ति ?”—तरला ने प्रथम प्रश्न किया ।

“न भूतो न भविष्यति !”—बहूवादी ने दोनों कान पकड़कर उत्तर दिया—“धन्य हैं आप !”

“तो अब इस धूमिका की बारी है । पाकशाला में जाकर एक अंगार माँग लो और मुँह में रखकर इसे भीतर को साँस खींचकर सुलगाओ ।”—धूम्रशिख ने उसे धूमिका की एक बर्तिका देते हुए कहा ।

बड़ी नम्रता से बहूवादी ने उस बर्तिका को हाथों में छिपाकर रखते हुए कहा—“एकांत में ही इसका धुआँ चखूँगा ।”

“नहीं, नहीं; कोई हानि नहीं है । यहीं पर पिओ ।”—भट्टीकार ने पुकारा—“दासी एक अंगार ले आओ ।”

“मुख से बोल तो निकाल रहे हो, धुआँ निकालते कौन-सी लज्जा लग रही है ? धूमिका कहीं भी पी जा सकती है । हाट, वन, बैठक, पाकशाला, शयन-शय्या सर्वत्र, दसों दिशाओं में इसके लिए मुक्त द्वार हैं । केवल एक रक्षा अपेक्षित है कपड़े, घास-फूस की ।” धूम्रशिख अपनी बर्तिका की महिमा गाने लगा—“कोई भी देश, दिशा और दशा ही नहीं, दिन और रात के किसी प्रहर में भी ।”

दासी अंगार ले आयी । पति, पत्नी और पुत्र ने अपनी-अपनी बर्तिकाएँ, जलाकर बहूवादी को आदर्श दिखाया, पर उसने फिर भी पीना अस्वीकार किया—“नहीं, आपके सामने नहीं ।”

“अच्छा जाकर कहीं भी पी आओ । शिश्ना तो पा चुके हो । कुछ मुख में तिक औ गले में खरखराइट उपजा देगा, तो घबराना मत । आँखों

में आँसू और खाँसी आवे, तो चिंता नहीं। घर-दीवारें भी घूमती दृष्टि-गत हों, तो भी डरना नहीं। पहले ऐसा होता ही है। यह सब इसके अस्वाद न समझना। कुछ समय पश्चान् इसी में आनंद का स्तूप-निर्माण हो जायगा, और फिर लोगों की बुझाकर फेंक दी गयी बर्तिकाओं को ढूँढ़ते फिरोगे।”—धूम्रशिख ने कहा।

“हाँ”—कहकर बहूवादी निष्कांत हुआ। पाकशाला में जाकर दासी के हाथ से अंगार लेकर वह धूमिका सुलगाने लगा, चारों ओर से सभी विकृतियों ने उसपर आक्रमण कर दिया। वह तिक भी लगी, आँसू भी आये, खाँसी भी और उसका माथा भी चक्र काटने लगा। उठते-बैठते, थूकते-खाँसते, आँसू पोंछते उसने किसी प्रकार कक्ष में प्रवेश किया।

‘क्यों, कैसे लगी धूमिका ? आया न आनंद ? इतना पचा जाओगे, तब आयगा और भा !’—धूम्रशिख ने अट्टहास के साथ कहा।

“मस्तक घूमने लगा श्रीमन् !”—माथा पकड़कर फिर बैठ गया बहूवादी।

“चक्रकांत ने बाहर धरती पर चक्र चलाया है। मैंने भीतर मन और विचार में !”—उसकी पीठ पर हाथ रखकर धूम्रशिख ने कहा—“हठात् वेग से साँस खींच ली होगी ?”

“अभी ठीक हो जायगा। ध्यान दूसरी ओर कर लो। सुनो, मैं तुमसे कहना भूल गया था, पिष्ठकूट को छुरी से ही काटकर खाना आवश्यक है।”—पिष्ठकूट बोला।

“हाँ, मैंने यह बात सीखी है। नागरिकों में भी यह बात फैल गयी है, तभी तो चक्रकांत की उद्योगशाला में घूमते हुए चक्र पर धार चढ़ाने के लिए छुरे-छुरियों का ढेर जमा रहता है।”—बहूवादी बोला। वह उठकर खड़ा हो गया था।

“क्यों ? अब कैसे हो ?”—धूम्रशिख ने पूछा।

“अब तो चैन है। विचार के सागर में अब तो तैरने लगा हूँ। एक बात सूझती है प्रभो !”—बहूवादी कहने लगा—“गुरुदेव के पिष्ठकूट को अपवित्र कहने का कारण ज्ञात हो गया मुझे। आपने उसे जो छुरी से काटकर खाने का पक्ष जोड़ दिया है, यही गुरुदेव के हृदय में घृणा

उपजाता है। छुरी के साथ कुछ हिंसा के भाव संश्लिष्ट हैं तो सही।”

“गुरुदेव की बात देख ली जायगी। सबसे पहले तुम आज ही अपनी स्त्री को लेकर यहाँ आ जाओ। तुम्हारे रहने को मकान दे देंगे, प्रवेश-द्वार के पास, वह रिक्त ही है। उसे अभी ठीक कर देंगे हम। तुम्हारे वेतन का निश्चय कर देंगे। खाने को दोनों समय तुम्हें पिष्ठकूट मिलेंगे।”

“उद्दीप्ति ?”

“वह तो उसका अविभक्त योग है।”—तरल्ला बोली।

“धूमिका भी।”—धूमशिख ने अपनी माया प्रसारित की।

गृहस्वामी के पुत्र का उत्साह बढ़ाने के लिए बहूवादी को कहना पड़ा—“हाँ, वह भी। पहले अपने प्राचीन स्वामी के पास तो हो आऊँ।”

“हाँ, हो आओ।”—नवीन स्वामी ने उत्तर दिया।

“उनकी नौकरी स्वयं न छोड़ूँगा मैं।”

“है, यह कैसी सूझ दी तुम्हें धूमिका ने। माया घूमता है क्या अब भी ?”—भट्टीकार ने पूछा।

“सब ठीक है। आप समझे नहीं। मेरा आशय है, मैं उन्हीं के मुख से कहलवाना चाहता हूँ कि जा तू हमारे यहाँ से चला जा।”

“वह क्यों कहने लगे ?”

“ऐसी ही कुछ बात कर दूँगा। उनका अपयश उन्हीं के मिर पर स्थापित कर चला आता हूँ अभी। एक पिष्ठकूट दे दीजिए मुझे। यह मेरी नवीन नौकरी का पहला और यही पुरानी का अंतिम काम होगा। मैं श्रेष्ठी के अंतःपुर में ले जाकर इसे रख दूँगा, जहाँ इसका प्रवेश निषिद्ध है। श्रेष्ठी-गृह की महिलाओं से अवश्य लड़-झगड़ मच जायगी और मुझे आने का राग मिल जायगा।”

सब हँस पड़े। बहूवादी एक पिष्ठकूट वस्त्र में लपेटकर चलता बना।

स्वामी ने उसके पास पहुँचते ही फटकारा—“बड़ी देर लगायी !”

“अश्व-चालक का संदेश लेकर गया था, अश्वारोही होकर नहीं श्रीमन् ! पिष्ठकूट के अग्नि-स्तूप पर दृष्टि पड़ गयी। वहाँ चला गया। तात्कालिक पिष्ठकूट भी चखा।”

“यहाँ नहीं देता मैं तुम्हें ?”

“वह बात कहाँ ? उद्दीप्ति भी तो चखी। यहाँ आते-आते वह ठंडो हो जाती है, इसी से आपने उसका नाम भी नहीं सुना है।”

“बक-बक मत कर रे बहुवादी। जा, ये फल भीतर अंतःपुर में ले जाकर रख दे।”

अपने नाम को अशुद्धि की कोई चिंता न कर बहुवादी पिष्ठकूट की शुद्धि को सँभालकर उन फलों के साथ अंतःपुर की ओर चला गया।

जाकर गृह-स्वामिनी के सम्मुख उसने फल रख दिये और फलों के ऊपर कूद गया उसके वस्त्र का पिष्ठकूट।

“यह क्या है ?”

“पिष्ठकूट !”

“हैं पिष्ठकूट ! तुम्हें ज्ञात है, यहाँ इसको लाने का निषेध है।”

“निषेध क्यों है ? यह परम पवित्र वस्तु है। मैं जाकर देख आया हूँ इसे उद्गम में। इसे सूँघों और चखो तो सही।”

गृह-स्वामिनी ने पास पड़ा हुआ भाड़ू उठाकर बहुवादी की पीठ पर जमा दिया और पिष्ठकूट को भी भाड़कर बाहर फेंक दिया। बहुवादी दौड़ता हुआ श्रेष्ठी के पास गया।

“क्या हुआ ?”

“घोर अपमान हो गया ! आप पिष्ठकूट खाते ही हैं, आपके लिए वह अपवित्र नहीं है, स्वामिनी के लिए क्यों हो ?”

“अंतःपुर का विधान भिन्न है।”

“स्वामिनी ने मेरी पीठ में भाड़ू मार दिया। देखिए दिखाता हूँ आपको पीठ।”—बहुवादी ने उन्हें पीठ दिखायी।

भीतर से गृह-स्वामिनी ने कर्कश स्वर में पुकारा—“इस अशिष्ट और अवज्ञाकारी भृत्य को अभी निकाल दो नौकरी से।”

बहुवादी ने फिर पीठ सामने न की स्वामी के। वह सीधा आगे को चल दिया द्रुत पगों से।

स्वामी ने पुकारा—“बहुवादी ! बहुवादी !”

“अशुद्ध नाम ! शुद्ध अशुद्ध है तुम्हारे यहाँ। मेरा नाम गृह-स्वामी

चक्रकांत

के उच्चारण में और पिष्ठकूट गृह-स्वामिनी के अंतःपुर में। क्यों रहूँ, जब 'जाओ' कह दिया।"

"शब्द लौटा लेता हूँ।"

"भाड़ू की मार?"—जाते-जाते बहूवादी बोला।

"हिसाब तो कर ले जा वेतन का।"

अनसुनी कर बहूवादी सीधा अपने घर गया। पत्नी गेहूँ बीन रही थी।

"फेंको यह सब, अब चलो।"

बहू चौंक पड़ी—"कहाँ को?"

"भाग्य की तारिका चमक गयी अब। चलो, नौकरी और रहने को बढ़िया उद्यान श्रेष्ठी वर्ग का मिल गया। खाने को दोनों जून भट्टीकार के पिष्ठकूट!"

बहू भौचकी उठ खड़ी हो गयी।

"हाँ, सच ही तो कह रहा हूँ। और उद्दीप्ति का स्वाद चख लोगी, तो कहने लगोगी अमर हो गयी। धूमिका के लिए तो नहीं कहूँगा मैं तुमसे अभी। चलो, आवश्यक सामान ले चलेंगे। शेष आता रहेगा।"

"क्या कह रहे हो न जाने तुम?"

बहूवादी ने धीरे-धीरे सारी घटना आदि से अंत तक सुना दी और बहू को भी निश्चय हो गया, सचमुच में भाग्य जाग उठा। वे उसी समय उद्यान में अपने गृह में समाविष्ट हो गये। खाने को पिष्ठकूट मिलने लगे। चूल्हे से अवकाश पा गयी बहू। उसने भी तरला के अधीन नौकरी कर ली। उन दोनों ने अपनी सेवा से मालिकों को शीघ्र ही प्रसन्न कर लिया।

दस

ब्राह्मण देश में एकता की ध्वनि का उठ जाना ही उसके कलह की सूचना थी। अरण्य अपने उदर-पोषण के लिए ग्राम की ओर

सुदृष्टि रखता था, पर ग्राम में चक्रकांत के चक्रों के संक्रमण ने गुरुदेव की पराविद्या में पाखंड उपजा दिया था ।

खेती के लिए जल के अभाव में अब आलसी कृषक ही गुरुदेव की पूजा के मानसिक श्रम में योग देता था, बुद्धिवादी कूप-चक्र में शारीरिक परिश्रम करता । वह अपने हाथों या पशुओं की सहायता से अपनी इष्ट-सिद्धि कर लेता ।

अरण्य और नगर के बीच संघर्ष खुलकर चलने लगा । चक्रकांत ने जिसे गतिवान किया, पिष्ठकूट ने उसे सबल बनाया और उसको अब घर-घर प्रचार करने के लिए बहूवादी ने अपनी कटि बद्ध कर ली ।

महाराज और गुरुदेव को अपनी-अपनी परिधि में प्राप्त प्राधान्यता ही नहीं थी, समस्त राष्ट्र में उनकी प्रभुता थी । उन दोनों ने जब तक एक-दूसरे की मान्यता रखी, तब तक वे ग्यारह रहे । गुरुदेव ने महारानी के महत्व को घटा दिया और महाराज नागरिकों को चक्रोत्सव से वीतराग न बना सके । ये दो घटनाएँ उन दोनों को विभक्त कर दुर्बल बना देने में सशक्त हो गईं ।

ग्राम, चक्र-शक्ति के उत्सर्जन को नागरिकों की कूटता समझता था निश्चय, पर वह जीवन के अनेक सुखों के लिए नगर का मुखापेक्षी हो गया । दोनों में संघर्ष था, पर आवरणों में ढका-छिपा । नागरिक सुंदर-स्वादु भोजन खा सकता था, उन्हें उपजा नहीं सकता था ।

गुरुदेव और नागरिकों का कलह तो सबसे पहले अंकुरित हुआ था एवं वह प्रकट रूप से था, और था वयोज्येष्ठ । इस भगड़े का प्रथम कारण चक्रकांत हुआ जिसने चक्रिणी की उपेक्षा कर उसके आयुध की पूजा आरम्भ करा दी । दूसरा कारण था भट्टीकार जिसके पिष्ठकूटों ने ग्राह्य और त्याज्य का भेद फैला दिया । ये दो कारण बाहर से आये थे । लिखा जा चुका है तीसरा कारण बहू-मत, जो वहाँ की उपज थी और पिछले दोनों की शक्ति को बढ़ाता हुआ आगे को बढ़ाने लगा ।

गुरु के तिरस्कार से महाराज की दुर्बलता को लक्ष्य कर लिया था श्रेष्ठियों ने । महाराज की शक्ति के दो प्रबल साधन थे नगर और ग्राम तथा उनमें चलनेवाली महाराज की मुद्रा । वह राजकोष से चलकर नगर और ग्राम दोनों की श्री और श्रम हस्तांतरित कर फिर कर के

रूप में अपने उद्गम को ही लौट जाती थी। श्रेष्ठीगण अपने वैभव-विलास में ऊँचे नहीं उठ पाते थे। धीरे-धीरे राजद्रोह पनपने लगा उनमें। प्रत्यक्ष रूप से राजा का विरोध क्रय करने में वे कुंठित हुए, पर ग्राम के साथ राजधानी का बैर बढ़ा देने में दत्तचित्त हो गये।

राजा के भय और प्रीति से प्रजा के भले-बुरों का शासन होता था, स्वर्ण और तुला ये दो उसके प्रतीक थे। गुरु की विभक्ति से संतुलन जाता रहा और केवल खड्ग ही महाराज के हाथ का विभूषण होकर रह गया—महाराज दुर्बल हो गये, उनकी सेना पिष्ठकूटों के स्वाद पर मचल उठी !

महाराज पिष्ठकूट को अपवित्र नहीं समझते थे। राजनगरी के बाह्य और अंतःपुरों में उसका पर्याप्त प्रचलन था, परन्तु वह कदापि नहीं चाहते थे कि उनकी सेना में उसका प्रयोग बढ़ जाय। वह पिष्ठकूट का एक अवगुण बताते थे। उसके भक्षण से उनका कर्मचारी चूल्हे-चौकें के अतिरिक्त भ्रम से छुटकारा पा जाता था और उस अवकाश का सदुपयोग नहीं करता था। मद-मत्सर, लोभ-मोह, दिन के स्वप्न या रात के जागरण में समाप्त कर देता था।

राजधानी में पिष्ठकूट के प्रवेश को रोक देने के लिए महाराज ने उसपर कर लगा दिया, भट्टीकार ने अपना मूल्य बढ़ा दिया ! नगर और राजधानी में प्रतियोगिता आरंभ होने लगी।

भट्टीकार कुछ ही दिनों में अपने अध्यवसाय से श्री-सम्पन्न हो श्रेष्ठियों में परिगणित हो गया था। वह खुलकर महाराज का विरोध करने लगा और भी बहुतों में उसने वह प्रेरणा फैला दी।

स्थान-स्थान पर नगरों में अव्यवस्था प्रस्फुटित होने लगी और महाराज को अपनी सैन्य शक्ति का आदर और संबर्द्धन करना पड़ा।

भट्टीकार के उद्यान में निवास कर बहू और बहूवादी दोनों ने दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करनी आरंभ कर दी। अपनी नौकरियों से पति-पत्नी दोनों ने मालिकों के सद्भाव, विश्वास और कृपा को जीत लिया।

कुछ ही दिनों पश्चान् उन्हें सिंहद्वार से और भीतर स्थान दे दिया गया, पिष्ठकूट-भांडार के निकट। बहूवादी दिन-भर नगर में पिष्ठकूटों

के विरोध का प्रतिकार करता और लेने-देने की व्यवस्था भी करता था ।

एक दिन बहूवादी प्रचार कर रहा था—“जिसके मन में मैल है, वही पिष्ठकूट को अशुद्ध बताता है । यह नितांत शुद्ध है । अपने ही देश के कृषकों के परिश्रम से गेहूँ उगा है । और स्वदेश की ही चक्की में उसे पीसा गया है । अधिक पिष्ठकूट खाओ । यह स्वादिष्ट ही नहीं, सुपाच्य भी है । मेरा नाम बहूवादी है, पिष्ठकूट का प्रचार तो केवल एक निमित्त है । वास्तव में इसके साथ-साथ मुझे बहू-वाद को फैला देना है । समस्त जन-संख्या में कोई छूटा न रहेगा । अधिक पिष्ठकूट खाओ । इससे तुम्हें विचार करने को अवसर मिलेगा । इसको अधिक खाने से तुम अधिक संवाद करोगे । अधिक संवाद करने से बहूवादी हो जाओगे । कोई-कोई इसे बहू-मत भी कहने लगे हैं । पर आप लोगों को समझ लेना चाहिए, मैं कोई उप-देशक या मत-मतांतरों के फेरवाला नहीं हूँ और चेलों को खोज में नहीं हूँ । बहू-मत में कोई साम्यवाधिकता नहीं है और इसमें सामाजिकता भी नहीं है । अनेकों ने बहू का अर्थ पत्नीत्व लगाया है, वे भी भ्रम में पड़े हैं ।”

“बहू का अर्थ है—एक नहीं अनेक । गुरु ओग राजा ये दो एक ही एक हैं वज्रांक में । क्यों न ये अनेक में परिवर्तित हों ? यदि समस्त प्रजा बहूवादी हो जाय, तो फिर इनको एकता स्थिर न रह सकेगी । पिष्ठकूट के विरुद्ध इन दोनों सिरों पर के मनीषियों ने बैर साधा है । एक कहता है, यह अपवित्र है और दूसरे ने अपना कर लगाकर इसे कलंकित कर दिया है । वे दोनों जब तक एक बात कहते रहे, तब तक भी कुछ बात थी । अब इन दोनों के अलग-अलग हो जाने से बहूमत के फैल जाने को विस्तार मिल गया ।”

“शुद्ध-अशुद्ध कुछ नहीं । वातावरण, स्थिति, प्रयोग और स्वभाव का खेल है जगत—जिधर बहू-मत, वह पलड़ा भारी । और जिसने पिष्ठकूट खाया, वही संवादी बना, उसी को बहू-मत आ गया ।”—बहूवादी एक ऊँची प्राचीर पर खड़ा होकर प्रचार कर रहा था । नगर की भोड़ को वह सहज ही आकर्षित कर लेता था ।

महाराज का एक सैनिक खड्ग कंधे पर रखे हुए आ पहुँचा—
“क्यों जी, क्या भीड़ लगा रखी है तुमने ?”

“राजनीति से कोई सम्बंध नहीं है मेरा, मैं पिष्ठकूट का प्रचारक हूँ। अपने व्यवसाय की चर्चा कर लोगों की प्रवृत्ति उस ओर खींच रहा था।”—बहुवादी ने निडर होकर कहा।

“बहु-मत, बहु-मत कहकर चिंता रहे थे तुम अभी।”—सैनिक ने कहा।

“क्या हो गया फिर ? जहाँ बहुत, वहाँबहु-मत। मैं अपने व्यापार की वृद्धि के लिए जनता का बहु-मत पिष्ठकूटों की ओर बढ़ा रहा था।”

परंतु पिष्ठकूट की पूँछ-सी तुमने उसके पीछे यह जो बहु-मत की अक्षरावली लगा रखी है, भयानक है, भयंकर है ! प्रजा में यह शब्द अधिक न फैले, इसके लिए विशेष ध्यान रखने को कहा गया है हमसे।”

“जब सारा नगर पिष्ठकूट खाने लगा, तब बहु-मत नहीं हो गया उसके साथ ? राजनीति के साथ इस शब्द को जोड़ देने से राज-द्रोह की गंध आ सकती है कुछ ? हमने तो अपने व्यवसाय का साथ दिया है इसे। क्या पिष्ठकूट पर महाराज ने कर नहीं लगा दिया है ? फिर पिष्ठकूट के पक्ष में बहु-मत के हो जाने से उन्हें कौन घाटा है ? केवल अन्धे होकर मालिक का आज्ञा ही नहीं, अपने मस्तिष्क का भी जब उपयोग करोगे, तभी तो महाराज की कृपापात्रता सुलभ होगी तुम्हें।”

सैनिक ने विचार कर कहा—“अच्छा, राजनीति से दूर ही रहना।”

पिष्ठकूट एक भोजन का पदार्थ। उसमें क्या राजनीति और क्या धर्म ?”—बहुवादी बोला।

सैनिक स्तब्ध हो गया। बहुवादी ने फिर आरंभ किया—“यह पिष्ठकूट तो श्वेत, शांत और शीतल है—इसके पश्चात् वह ज्वलंत, तरंगित और रंगमयी उद्दीप्ति ! व्यवसाय के लिए हाट में आना ही चाहती है। होने को तो वह पिष्ठकूट की पत्नी है, पर प्रभाव में उसकी स्वामिनी। जब आप लोग उसका स्वाद चख लेंगे, तब एक नवीन स्वप्न-साम्राज्य में प्रविष्ट हो जायँगे। बाहर माया-कल्प हो जायगा, १३६

तो भीतर काया-कल्प ! ऐसा अद्भुत जोड़ा है पिष्ठकूट और उद्दीप्ति का !”

“और इन दोनों के पीछे एक धुआँ आ रहा है । होने को तो वह इनका पुत्र है, पर प्रभुता में पिता की-सी क्षमता रखता है । पिष्ठकूट न मिले उद्दीप्ति पर, दिन कट जायगा; परंतु यदि धूमिका न मिलेगी, तो वे दोनों व्यर्थ हो जायँगे । दिन और रात इन दिनों में से कोई एक पल आगे नहीं बढ़ सकता । पृथ्वी, जल और आकाश की यह त्रयी जिस दिन वज्रांक के चारों भागों में फैल जायगी—”

सैनिक वहीं खड़ा था । उसने बाधा पहुँचायी—“तुमने चारों भाग कहकर राजनीति को समाविष्ट कर लिया । मैं तुम्हें सावधान करता हूँ !”

बहुवादी ने संशोधन किया—“जिस दिन पिष्ठकूट, उद्दीप्ति और धूमिका की यह त्रयी वज्रांक के नगर और ग्राम में फैल जायगी, उस दिन देखना बहु-मत किधर होगा । सैनिक महोदय के मस्तिष्क पर अतिरिक्त भार पड़ने लगा है, मैं अपना प्रचार समाप्त कर देता हूँ !”

भीड़ तितर-बितर हो गयी । बहुवादी ने अपना और सैनिक ने अपना पथ लिया । संध्या होते-होते वह उद्यान में पहुँचा । बहु अपने दिन भर की नौकरी शेष कर घर पर आ गयी थी । बोली—“आज कुछ विलंब से आये ।”

“हाँ, राजशक्ति-मेरा मुँह बंद कर देने के निश्चय पर है और प्रचारक का मुख, उसके खाने और जीविका दोनों का द्वार है । उस पर कौन प्रतिबंध लगा सकता है ? आज तो मैंने झगड़ा नहीं बढ़ाया, पर भविष्य में भी क्या इसी प्रकार घर लौट सकूँगा, संदेह होता है । लेकिन बहु, तुम्हें इन बाधाओं से चिंतित नहीं होना चाहिए । समस्त वज्रांक बहुवादियों से भर जायगा और महाराज उनके बीच में अपनी एकता संभालकर रख न सकेंगे ।” सारे श्रम को उतार बहुवादी ने हँसकर कहा—“क्यों बहु !”

“हाँ बहु-पत्नी !”

“तुमने तो यह बड़ी पुराना नाम गाँठ बाँध लिया है । अब इसके कई संस्करण हो चुके हैं । यदि नये नामों में जिह्वा का अभ्यास बढ़ाती न चलेगी, तो शीघ्र पुरानी पड़ जाओगी ।”

बहुवादी के नाम से पुकारे जाने के आग्रह को पत्नी उक्त शब्द से ही पूर्ति करती थी। वह रुढ़िवादिनी प्राचीनता को ही परिपक्वता समझती थी। बोली—“तुम नित्य नवीन नाम बदलते जाओगे, तो मैं कहाँ तक उन्हें स्मरण रखूँगी ? मुझे अपनी नौकरी भी तो करनी है न ?”

“पिष्ठकूट के आशीर्वादों से चूल्हा फूँकने और बर्तन घिसने से छुट्टी पा चुकी हो, अब तो अवकाश ही अवकाश है। नौकरी का ही क्या बोझ है तुम्हारे ? करना क्या पड़ता है ? केवल स्वामिनी का साथ। कभी-कभी उनके भोजन-शृंगार के उपादानों का प्रबन्ध। नहीं तो सदा-सर्वदा उन्हीं को हाँ में हाँ मिलाना।”

“कहाँ ? आजकल तो मैं खेती करती हूँ स्वामिनी के साथ। पिष्ठकूट की भट्टी के उधर प्राचीरों से घेरकर जहाँ खेती की गयी है, वहाँ !”—बहू ने कहा।

“क्या बोया गया है वहाँ ?”

“किसी को जाने की आज्ञा नहीं है उधर। दो भाग हैं भीतर उसके। एक आर मालकिन की खेती है और दूसरी ओर श्री धूम्रशिख ने कुछ पौधे उगाये हैं। मालकिन के पेड़ बड़े हैं, पर पत्तियाँ छोटी, पत्र के पेड़ छोटे हैं, पर पत्तियाँ बड़ी। और कुछ नहीं पहचानती मैं उन्हें। पहले वहाँ कोई प्रवेश नहीं पाता; जो जाता भी है, तो उसे पत्तियों को स्पर्श करने की भी आज्ञा नहीं है।”

“ऐसा रहस्य-भरा क्या होगा उनमें ?”—बहुवादी ने पूछा।

“मेरे प्रश्न के उत्तर में स्वामिनी ने बताया था, किन्हीं विशेष औषधियों की खेती है वह।”

“पिष्ठकूट, उद्दीप्ति और धूमिका ! इनके पश्चात् अब किस औषधि की आवश्यकता है वज्रांक को।”

“दो बड़े-बड़े मकान भी बनाये जा रहे हैं वहाँ। उस खेती के संस्कार और संग्रह के लिए।”—बहू ने कुछ पानी गरम करने के लिए रख दिया।

बहुवादी ने प्रसन्न-मुख से कहा—“उद्दीप्ति का चूर्ण है क्या ?”

“माँग कर लायी हूँ। अब स्वामिनी उद्दीप्ति के चूर्ण के लिए कृपणता नहीं दिखाती, इसी से हमारी नृणा उसके प्रति उत्तरोत्तर वृद्धि में ही १३८

है। बिना पिष्ठकूट खाये मेरे सूर्य आगे बढ़ सकते हैं, परंतु बिना उद्दीप्ति पिये कदापि नहीं।”

“और मेरे पीछे तो एक धूमिका और भी लगी है। पहले दिन जो विष-प्रभाव उसने दिखाया था, वह अब अमृत के समान हो गया।”

“उम खेती के बीच में बड़े विशाल, भव्य और दृढ़ मकान बनाये जा रहे हैं। जल-चक्र और एक भट्टी भी।

‘सब संपत्ति को लीला है। यदि इन तीन वस्तुओं में से किसी एक का भी रहस्य मुझे ज्ञात हो जाय, तो अट्टालिका का क्या अस्तित्व है। मैं तो बसा दूँ पूरा एक नगर। पिष्ठकूट के अंशों का पता तो चल गया है मुझे, पर विधि नहीं ज्ञात हो सकी अब तक। पर लगा लूँगा पता कभी न कभी।”

“स्वामी की चोरी करोगे क्या ? पहले तो तुम ऐसे नहीं थे। ज्यों-ज्यों तुम्हारी संपत्ति बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों लालच भी क्यों ?”

“चोरी किस बात की ? छिपाकर रख दी गयी वस्तु को जानने की मनुष्य का एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यदि कोई उस भेद को जान ले, तो यह चोरी हुई या उसकी वृद्धि का चमत्कार ! सच कहाँ, क्या तुम नहीं चाहती हाँ, जिस सरलता से तुम उद्दीप्ति के लिए जल गरम कर सकती हो, उतनी ही सुगमता से तुम उसका चूर्ण भी कूट लो ?”

बिना अथ व्यय किये ही जब इमें बड़ मिल जाती है, तब क्यों हम किसी के रहस्य का उत्पादन करें।”

“अच्छा कुछ खान-पीन को देना है, तो दो। स्वामी के पास जाना है और धूमिका को एक भी वस्तिका नहीं है। बिना उसके नींद ही कैसे आयेगी !”

पिष्ठकूट खा उद्दीप्ति पी और धूमिका की आशा में लौ लगाये बहूवादी अपने स्वामी की अट्टालिका में उनके सामने जाकर उपस्थित हुआ।

“श्रीमन्, पिष्ठकूट के प्रचार में राजसैनिक बाधा देने लग गये।”

—बहूवादी ने हाथ जोड़कर कहा।

“क्यों ?”

“मैं नहीं जानता। पिष्ठकूट खाकर जब सैनिक ग्रीति के साथ राज-भक्ति करते हैं, तब प्रजा में कौन-सा राज-द्रोह फैल जायगा ?”

“तुमने राज-द्रोह की बात तो नहीं कह दी कोई ?”

“मैंने केवल यही कहा—मैं पिष्ठकूट के साथ-साथ बहू-मत फैला रहा हूँ और एक दिन यह बहू-मत वज्रांक के चारों भागों में फैल जायगा। वह बोला, राजधानी के नाम का उल्लेख मत करो।”

“तुम्हें न करना था।”

“मैंने नहीं किया।”

“ठीक किया। राजा ने पिष्ठकूटों पर कर लगा दिया यह भी मत कहना। उन्होंने कर लगा दिया, तो हमने दाम बढ़ा दिये, फिर भगड़ा ही कहाँ रहा। सुनो, चक्रकांत और वरद ने मंत्रणा की है। हमें नगरों में उपद्रव उठाने से कोई लाभ नहीं है।”

“नगरों में पिष्ठकूट का प्रचार पर्याप्त हो गया है। वे ग्रामों की ओर भी चल पड़े हैं, पर ग्रामों में अपने आदमी भेजकर उन्हें फैलाना है।”—बहूवादी बोला।

“हाँ सोच रहा हूँ मैं।”—स्वामी ने कहा।

“ठहर जाइए अभी। क्या सोच रहे हैं आप ? नागरिकों में उद्दीप्ति का चूर्ण बेच देने को सम्मत तो हो गयी हूँ मैं। उसकी विधि भी तो प्रचारित की जायगी। उसके लिए बहूवादी से उपयुक्त और कौन मनुष्य होगा।”—तरला बोली।

“उद्दीप्ति का नाम तो मैंने प्रत्येक मनुष्य के मन में अंकित कर दिया है। वह मिले, तो चतुष्पथों में प्रदर्शन कर दो ही चार दिन में घर-घर स्वयं ही फैल जायगी वह विधि जंगल की आग की भाँति। सारा बहूमत उद्दीप्ति की आर हो जायगा। दूध और पानी की भिन्न-भिन्न सत्ता का माननेवाला दीपक से ढूँढ़ने पर भी प्राप्त न होगा।”—बहूवादी बोला।

“और धूमिका पी-पीकर तुम यह प्रचार करना। धूमिका स्वयं प्रचारित हो जाने की वस्तु है। उसकी कोई विधि भी सिखानी नहीं है। वर्तिका मुख में लगायी—वर्तिका के मुख में लगाया जलता-बलता कोयला, साँस भीतर खींच ली, जो अपनी स्वाभाविक गति से ही

बाहर आ जायगी। बहूवादी, मैं भी धूमिका को हाट में रख देने को प्रस्तुत हो चुका हूँ। पर इतनी नहीं बन पा रही है अभी।”—धूम्रशिख बोला।

“धूमिका की पत्ती लपेटनेवाले श्रमजीवियों की संख्या बढ़ा लीजिए।”

“मेरा रहस्य कहीं जान गये, तो फिर सब चौपट न हो जायगा ! मैंने श्री चक्रकांत से इस संबंध में बातें की हैं। वह कहते थे, वह धूमिकाचक्र बना देंगे और चुटकियों में धूमिकाओं का ढेर लग जायगा। उन्हें धूमिका बहुत प्रिय हुई है। मैं केवल एक ही दिन के योग्य धूमिकाएँ उन्हें भेजता हूँ। नौकर मार्ग में पी जाते हैं। इसी कारण वह नित्य ही हमारे उद्यान की परिक्रमा करने लगे हैं।”

“एक दिन उन्हें धूमिका न दो, तो दूसरे ही दिन धूमिका-चक्र बनाकर ले आवे।”—बहूवादी ने कहा।

“अरे बहूवादी, जब धूमिका ही नहीं मिलेगी, तब उनका मस्तिष्क काम क्या करेगा ? संसार के समस्त विरह धूमिका के धुएँ में डबा दिये जा सकते हैं, उसका विरह बड़ा भयानक है।”

तरला ने पति से पूछा—“फिर क्या निश्चय है ?”

“जिधर बहू-मत, उधर मैं भी। जो तुम निश्चित करो, वही ठीक।”

“ठीक-ठीक ! और जिधर बहूवादी उधर बहू-मत। कल से उद्दीप्ति और धूमिका का प्रचार किया जायगा। दो चाकर भार ढोने, चूल्हा सुलगाने और पानी खींचने के लिए भी मिलने चाहिए।”

“सब कुछ मिलेगा।”—तरला ने कहा।

दूसरे ही दिन से बहूवादी उद्दीप्ति का प्रचार करने लगा। धूमिका भी जो कुछ सीमित मात्रा में मिल सकती थी, ले जाता।

शीघ्र ही इन दो वरों का भी घर-घर प्रचार हो गया। नागरिक पिठकूट खाकर परिपुष्ट हो गये, उद्दीप्ति पीकर उनकी तेजस्विता बढ़ी और धूमिका के वातावरण में उनके विचार बदल गये। वे सोचने लगे—“एक केवल भगवान का नाम है। संसार में एक-सत्ता किसी की नहीं। एक का स्थान अनेक लेगा, वज्रांक में बहू-मत फैलेगा।” और फैलेने लगा वज्रांक में बहूमत। अरण्य में उस बहू-मत के प्रभाव

चक्रकांत

से काँपने लगी गुरुदेव की केवल सत्ता और राजधानी में थरथराये महाराज ।

नगर में गगनभेदी स्वर जागा--“एक नहीं बहू !”

महाराज ने सैनिकों को उत्साहित किया--“दमन कर दो ।”

सैनिक बोले--“महाराज, उद्दीप्ति भी मिलनी चाहिए । पिष्ठकूटों के साथ ।”

कुछ ने कहा--“धूमिका भी महाराज । शीत और रात्रि में भी हमें काम करना पड़ता है ।”

महाराज ने आश्चर्य से कहा--“यह उद्दीप्ति क्या और धूमिका क्या ?”

सेनापति ने समझाया--“ये पिष्ठकूट की ही आगे की सरणियाँ हैं महाराज ।”

“ठीक हैं, निर्दोष हैं ? दी जा सकती हैं सेना को ? तुमने उपयोग किया है उनका ?”

“शरीर और मस्तिष्क में स्फूर्ति तो अवश्य लाती हैं महाराज । मैं उनका उपयोग करता हूँ । सैनिकों को यदि वे मिज़ने लगें, तो काम तो बड़ी तत्परता से होगा ।”—सेनापति ने उत्तर दिया ।

“फिर क्या चिंता है ? धन की कमी होनी न चाहिए । प्रजा में शांति की स्थापना राजा का मुख्य कर्तव्य है । उसके लिए सैन्य-शक्ति का व्यय मेरा विलास नहीं है, प्रजा की अनुभावना है । वह कर के रूप में उन्हीं के स्कंधों से जोड़ दिया जायगा ।”

“एक बात है महाराज ! सब गड़बड़ों की जड़ में जो प्रजा में बहू-वाद फैल गया है ।”—सेनापति और भी कुछ कहना चाहता था ।

महाराज बीच में ही बोले--“एक और नवीन शब्द, यह बहू-वाद क्या ?”

“बहुत बोलने की बात महाराज !”—सेनापति ने कुछ छिपाकर कहा ।

“बहू-मत—बहुत बोलने की बात, यह स्त्रैणता है, इससे हमारे पौरुष को कोई हानि नहीं पहुँच सकती । इसका कोई भय नहीं है मुझे । यदि प्रजा मेरी भावना का आदर नहीं करेगी, तो मेरे पास खड्ग है । मैं

१४२

उद्दीप्ति और धूमिका को चखकर उनके गुणावगुणों को जानना चाहता हूँ। लाओ, मैं अभी उसका स्वाद लूँगा और अभी सेना में उसके प्रचार का निर्णय होगा।”

सेनापति के यहाँ उद्दीप्ति के चूर्ण और धूमिका का प्रचुर प्रयोग होने लगा था। वह जाकर ले आया और अपने हाथ से उसने राजा के सामने उद्दीप्ति बनाकर पिष्ठकूट के साथ उन्हें पिलायी।

एक घूँट पीते ही महाराज नृत्य के उल्लास में भर गये। उन्होंने अंतःपुर के द्वार पर जाकर पुकारा—“महारानी, शीघ्र दौड़ती हुई चली आओ। जिस अमृत को आज तक हम केवल कल्पना में देखते थे, उसका प्रयत्न स्वाद लेना है, तो तुरंत बिना किसी वाक्य-व्यय के दौड़ी चली आओ।”

महारानी उत्सुकता के साथ तुरंत ही आ पहुँची; सेनापति ने रागमयी उत्तम उद्दीप्ति का दूसरा पात्र महारानी के सामने रख दिया।

पिष्ठकूट तो राजधानी के अंतःपुर में प्रचलित थे ही। उस नवीन सुवासित सुदर्शन पेय पर आकृष्ट होती हुई महारानी ने कहा—“गुरुदेव की अनुमति तो नहीं ली जायगी इसके पान में?”

“खाने-पीने की वस्तु कोई धार्मिक अनुशासन नहीं माँगती, क्षुद्र सांप्रदायिकता का त्याग करो। पिष्ठकूट को देखो, गुरुदेव से अनुमत न होते हुए भी उसने समस्त राजधानी को परिवेष्टित कर लिया है। और गुरुदेव भी वह, जिन्होंने तुम्हारा तिरस्कार किया है!” महाराज ने उद्दीप्ति पीते हुए कहा—“ठंडी हुई जा रही है। पीओ तो सही, तुम्हारे सारे संशय-भय, जिस प्रकार इसमें शर्करा घुल गयी है, ऐसे ही घुल जायँगे।”

महारानी ने पात्र उठा लिया—“यह गरम है।”

“यही तो इसकी उत्तेजना है।” महाराज ने फिर सेनापति से कहा—“सेनापति, तुम भी तो।”

“हाँ महाराज, क्यों नहीं। यह बहू-मत को एकत्र करती है।”—सेनापति ने भी एक पात्र उठा लिया।

दो-चार घूँट पीकर महारानी ने परम तृप्ति प्रकट की—“स्वर्गीय सुरों का पान, कहाँ से आया?”

“केवल इसके स्वाद को साची होओ। यह प्राप्त हो जायगा जितनी आवश्यक होगी। जब तक मेरी मुद्राएँ ढलकर वज्रांक में चलती हैं, तब तक हमें कोई अभाव नहीं। वरद श्रेष्ठी के उद्यान को क्रय कर जिस विदेशी ने पिष्ठकूट बनाया है, यह उद्दीप्ति उसी की पत्नी का आविष्कार है। सेना इसे माँगती है, तुम सम्मत हो इसमें?”—महाराज ने पूछा।

“हानि क्या है?”—महारानी ने पात्र रिक्त कर रख दिया और अधिक की तृष्णा अपने भावों से व्यक्त की।

महाराज दूसरा पात्र भरकर पीने लगे थे। सेनापति ने महारानी को भी दे दिया।

“हाँ, मैं भी समझता हूँ, कोई हानि नहीं है। बड़ी अद्भुत चेतना इसने जगा दी। सेना के भीतर जब यह चेतना जागेगी, तब क्या वह अधिक मनोयोग से राज-सेवा न करेगा?”

“अवश्य महाराज।”—कहकर रानी से सेनापति से उद्दीप्ति की सारी विधि समझ ली। वह महाराज से बोली—“आज ही मँगा लीजिए यह उद्दीप्ति का चूर्ण। सेना के लिए जब भी आवे, हमारे लिए तो अभी आना चाहिए। कितनी उदास हो रही थी मैं? इसे पीते ही समस्त चिंता चली गयी और गुरुदेव क्या इसे भी अशुद्ध कहते हैं?”

“समस्त राष्ट्र जब इस त्रयी से एक नवीन चेतना में जाग्रत हो रहा है, गुरुदेव इसका विपक्ष लेकर दिन-दिन अपनी महिमा खो चले हैं।”—सेनापति ने कहा।

“यही है उद्दीप्ति! और नहीं है क्या सेनापति? कोई हानि नहीं।”—महाराज ने कहा।

“आज ही राजभवन के लिए मँगा दिया जायगा इसका चूर्ण।”

“अवश्य!”—महाराज बोले—“यदि यह प्रजा को अव्यवस्था के लिए उत्तेजित करेगी, तो क्या इससे राजा का दमन भी उसी मात्रा में उद्दीपित न हो जायगा? बहुत सुंदर! और वह धूमिका कहाँ है?”

सेनापति ने दो वर्तिकाएँ निकालकर कहा—“केवल दो ही हैं महाराज! मैं महारानी की कोमल प्रकृति को इसके उपयोग के लिए १४४

कहूँगा भी नहीं। इसकी उत्तेजना बड़ी विकट है, इसी से स्वाद में भी कुछ विषैली है।”

“तुम जाओ महारानी, यदि यह तुम्हें सत्य होगी, तो कोई अभाव न रहेगा तुम्हारे लिए मेरी अनुमति के साथ।”

“महारानी, उस मधुर स्वाद की अभिमानिनी, अंतःपुर में सहचारियों से कहने के लिए चली गयी। महाराज धूमिका सुलगाने लगे।

“धैर्य के साथ महाराज !”—सेनापति ने कहा।

“हाँ, हाँ, इसके विष-प्रभाव की गंध आने लगी है। यदि यह प्रजा की बुद्धि का भ्रम है, तो मुझे भी अपना भ्रम बढ़ा देना इष्ट है। विष की औषधि विष नहीं होती क्या ?”—महाराज ने धीरे-धीरे धूमिका सुलगायी और उनके खाँसी उठने लगी।

“अभी सब ठीक हो जायगा महाराज ! देखिए, मेरे नहीं उठ रही हैं खाँसी !”—सेनापति ने कहा।

“माथा धूमने लगा सेनापति !”

“अभी स्थिर हो जायगा।”

“चलो मंत्रणा-गृह में। तुम्हें समझाने के लिए बहुत-सी बातें एक साथ ही स्मरण हो आयीं।”

“यही धूमिका का प्रभाव है। वह तुरंत ही आपके लिए फलदायक हो गयी, यह अत्यंत प्रसन्नता की बात है।”—सेनापति ने कहा।

दोनों ने मंत्रणा-गृह में प्रवेश कर अपने-अपने आसन सुशोभित किये।

“पहली बात, ये दोनों वस्तुएँ सेना को मिलनी उचित हैं—एक नियत परिमाण में।”—महाराज बोले—“दूसरी बात, अरण्य से हमें कोई भय नहीं है, उनका कौपीन उनके कुशों की नोकों में हमारे लिए कोई भय नहीं है। शस्त्र-हीन ग्राम, वे निरंतर कृषि के संवर्धन में लगे रहते हैं। हमारे लिए सारी विषमता आकर जमा हो गयी है नगरों में ही। चक्रकांत वहीं आकर बस गया। मुझे उसकी भी कोई चिंता नहीं थी। पर यह पिष्टकूट, उद्दीप्ति और धूमिका इन्हें राजधानी में राजाश्रय मिलना चाहिए था। तीसरी बात यही है, तुम उस कुटुम्ब को राज-अतिथि बनाकर नहीं ला सकते दुर्ग के भीतर ?”

“श्रेष्ठियों ने उसे सभी सुविधाएँ दे रखी हैं।”

“राजधानी और भी कुछ नहीं दे सकती क्या ? सुनो सेनापति, तुम्हारा राजा निःसंतान है और यह धूमिका अद्भुत प्रभाव से युक्त है। इसका निर्माता यदि मुझे मोहित कर लेगा, तो मैं उसे क्या नहीं दे सकता ?”—महाराज ने कहा।

सेनापति के लार टपकने लगी। उसने अपने मन में सोचा—
“भट्टीकार का पुत्र क्या वज्रांक के सिंहासन में बैठ जायगा और अपने हाथ के इस खड्ग को गलाकर वलय के रूप में धारण कर लूँगा मैं ?”

महाराज ने धूमिका का धुआँ छोड़कर पूछा—“क्यों सेनापति ! नहीं बुला ला सकते उसे ?”

“नहीं महाराज !”

“सेनापति होकर ‘नहीं’ कहते हो ?”

“उसका कोई अपराध होने पर तो उस पर सैन्य-शक्ति का उपयोग कर सकता हूँ। उसने अपने नये व्यवसाय में प्रजा में नयी स्तरंग दी है और राजकोष में वृद्धिशील कर चुकाया है।”

“अच्छा उसकी त्रयी के ही रहस्य लाकर दो कि हम कृषक की सहायता से उन्हें प्राप्त कर लें। बड़ी सुंदर है यह धूमिका ! और नहीं लाये ? रहस्य नहीं जान सकते इसका ?”

“नहीं महाराज ! धूमिका की वस्तिका ला सकता हूँ जब जितनी कहें। फिर उसके व्यवसायी या उसके रहस्य से महाराज को थोड़े वैश्य-वृत्ति करनी है ?”

“कहा तो ठीक है तुमने। राजा की वैश्यता बढ़ाने के पक्ष में नहीं हो तुम—इसी त्रयी की वैश्यता तो बढ़ेगी ही।”

“न बढ़ाएँ महाराज ! अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। यह घूँट और यह फूँक अभी अपनी पहली ही गिनती पर हैं। विचार लीजिए अच्छे प्रकार।”

महाराज विचार में पड़ गये ! तत्क्षण ही बोले—“विचार लिया सेनापति ! शून्यता में अंक प्रकट हो गया है, वह आगे को अवश्य बढ़ेगा। बड़ी मोहनी है इस धूमिका में, यह शेष हो गयी, दूसरी लाओ।”


“बातें तो शेष नहीं हुई।”

“हाँ, प्राचीर से परिवेष्टित एक मार्ग ग्रामों तक बनाया जायगा राजधानी से और ऐसा ही एक इस त्रयी के उद्यान तक।”

सेनापति ने उसे महाराज की बहक समझकर उस पर सिर हिला दिया—“और भी कोई बात महाराज !”

“बातें कहीं पर समाप्त नहीं होतीं। पिष्टकूट के खाने के लिए पेट में स्थान देखना पड़ेगा, ऐसे ही उद्दीप्ति के लिए भी; पर यह धूमिका ? इसका पेट तो यह अनंत आकाश दिखायी दे रहा है। राज-भवन के इस कक्ष के धूम से भर जाने पर राजधानी, फिर सारा राज्य—उसकी भी विश्व की विराटता में क्या गिनती है ? धूमिका लाओ पहले। वह बातों का जोड़ ही नहीं लगा देगी, उनको उभार भी देगी।”—महाराज बोले।

ग्यारह

 त्रयी की धारा वेग के साथ राजधानी की ओर अखंडित होकर बह चली। भट्टीकार और भी अपने वैभव में बढ़ने लगा।

तरला और धूम्रशिख की खेती लहलहा उठी। अब उनको उस रहस्य को सुरक्षित रखने की और कोई चिंता नहीं रही।

पत्नी और पुत्र का रहस्य अधिक दिन तक पति से छिपा न रह सका। अपना भेद स्वयं उन्हें देकर एक दिन उन्होंने मंत्रणा की।

पति ने कहा—“अलग-अलग अपना भेद रखना हमारी दुर्बलता थी। अब हम संयुक्त होकर तीनों भेदों की अधिक सुरक्षा कर सकेंगे।”

तरला बोली—“हमारा व्यापार इतना बढ़ गया है कि हमें कृषि की सीमा बहुत बढ़ा देनी पड़ेगी। उसे बढ़ाते हैं, तो अधिक चाकरों को हमारी खेती का पता लग जायगा।”

“केवल पत्नी ही तो नहीं है। उसके संस्कार क्या हमारे तालों में नहीं हैं ?”—स्वामी ने कहा।

धूम्रशिख बोला—“यही स्थिति मेरी भी है। चक्रकांत महोदय ने

चक्रकांत

वर्तिका-चक्र बना दिया है। चुटकियों में उनसे शस्त्र-तहख़ वर्तिकाएँ प्रस्तुत हो जाती हैं। पर पत्तियाँ ही न होंगी, तो चक्र घुमाने से क्या मिल जायगा हमें ?”

पिता ने कहा—“पत्तियों की वृद्धि करनी है, तो वह क्या कठिन है ? उनको श्रमजीवियों के अधीन कर दो। स्मरण रखो, केवल पत्ती से कुछ न होगा। रहस्य तो बीज के भीतर है। फूल में भी नहीं। फूल आने तक भी निश्चित रहो। जब फलों में बीज पक्के होने लगते हैं, तभी सावधानी की आवश्यकता है। जनता को जान लेने दो कि पत्ती तुम्हारी धूमिका और उद्दीप्ति का आधार है। इससे क्या होता है ? जब तक बीज सुरक्षित है, तब तक पत्ती उनके वश में नहीं हो सकती। बीज ही मंत्र है। जब तक उसके एक-एक दाने को तुम सुरक्षित रख लोगे, तब तक रहस्य कहीं जा नहीं सकता; इसलिए कुछ उदार होकर निश्चित हो जाओ।”

तरला प्रसन्न हो उठी—“हाँ, बात तो ठीक है। मेरे सिर पर का चिंता का पर्वत जैसे मेरी वेणो के पुष्प में ग्रथित हो गया।”

धूम्रशिख भी सानंद कहने लगा—“और मेरी रात की नींद के जो टुकड़े-टुकड़े हो गये, वह अखंड हो जायगी अब। अब क्या है, अब वज्रांक के चारों भागों को हम अपने व्यवसाय से लपेट सकते हैं।”

“तुम इसे व्यवसाय कहते हो, मैं कहता हूँ राज्य ! राजा हमारी त्रयी के वश में हो जाने से क्या हमारे अधीन नहीं हो गया ?”—पिष्टकूटक ने कहा।

“और उसकी सेना ? उसके मुँह में भी हमारी शृंखला पड़ गयी। नागरिक राजा के सैन्य-बल से भयभीत हैं और हमें उनकी भी चिंता नहीं है, क्योंकि वे अपनी अतिरिक्त घूँटों और फूँकों के लिए हमारी दूकानों में समय-असमय गिड़गिड़ाते रहते हैं।”—धूम्रशिख ने विजय के दर्प से मस्तक उठाकर कहा—“श्रीमान् चक्रकांत निश्चय एक संपन्न व्यक्ति हैं, श्री और प्रतिभा दोनों में हमसे श्रेष्ठ हैं, पर रहस्य उनका होकर नहीं रह सका, इसलिए प्रभुता हमारी होकर रह गयी। यदि हम न होते, तो वज्रांक चक्रकांत का होता। चक्रकांत भी हमारी त्रयी के अधीन हैं, अतः यह भूमि हमारी है।”

तरला बोली—“हमारे बढ़ते हुए महत्व से ही तो महाराज ने हमारे लिए राजधानी के द्वार मुक्त कर देने का हमारे पास संदेश भेजा है।”

“परंतु तुम्हारे स्वामी को राजमुकुट का नैकट्य इतना प्रिय नहीं है जितना जनता के हृदय और मस्तिष्क में अपना निवास बना लेना। गृहकार ने कहा—“श्रेष्ठियों से प्रतियोगिता है हमारी। चक्रकांत के सम्मुख भी हमें विनीत ही रहना होगा। उन्होंने सबसे पहले हमारी सहायता की, धूम्रशिख की धूमिकाओं का सृजन बढ़ाने के लिए धूमिका-चक्र बनाया।”

“आप भूल रहे हैं पिताजी, धूमिका-चक्र के बनाने की सूरत उन्हें धूमिका ने ही दी। वह चक्र किसी और के काम का ही क्या है?”—धूम्रशिख ने कहा।

“नहीं बत्स, हमारे आगे प्रच्छन्न आकाश है। न जाने फिर किस आवश्यकता में हमें उनकी कल्पना का उपयोग करना पड़े।”—पिता ने कहा।

“जैसे भी आप कहें, पर अब समस्त चिंताओं से छुट्टी पा ली। पीसने के लिए चक्र वेग से भरे हैं, श्रमकों का बंधन गया। धूमिका-चक्र, वहाँ भी उनपर विजय मिली। पत्तियों को भी रहस्य से बाहर निकाल-कर—” धूम्रशिख कहने जा रहा था।

पिता बीच ही में बोल उठे—“धूम्रशिख, तरला ने पत्तियों को भूनकर उनका रंग बदल दिया, क्या तुम भी कुछ—”

तरला भी बीच में बोल उठी—“वास्तव में मैंने उनमें रहस्य का एक आवरण दे देने के लिए ही आँच दिखायी थी, पर क्या उस क्रिया ने उनके स्वाद की अभिवृद्धि नहीं कर दी?”

उनको चूर्णीकृत कर तुमने रंग ही नहीं, उनकी रेखाएँ भी मिटा दीं।”—पति ने पत्नी से कहा।

“क्या करती फिर? उद्दीप्ति की उत्तमता घर-घर पहुँचाने के लिए जनता के हाथों में अपनी पत्ती देनी पड़ी थी न?”—तरला ने अपनी विवशता के साथ अपने मानसिक बल की अभिव्यक्ति की।

पिता ने पुत्र से कहा—“पुत्र, क्या तुम अपनी पत्ती का रूप-रंग नहीं बदल सकते?”

“एक धूमिका पीकर ही इसपर विचार करता हूँ अभी । क्या बढ़िया विचार की चिनगारी आपने चमकायी है !”—कहता हुआ धूम्र-शिख कक्षांतरित हुआ और कई धूमिकाएँ उठा लाया—“आप भी पीजिए पिताजी, और आप भी तो । बहुत दिनों तक इसके विरुद्ध नाक में वस्त्र लगाकर तुमने इसे दूर ही रक्खा । पर अब तो इसकी माधुरी तुम्हारे मन में बस गयी है । इसी प्रकार नगर की अनेक महिलाओं ने भी धूमिका को अपनी उँगलियों और अधरों का अभूषण बनाया है !”

सबने एक-एक धूमिका सुलगायी ।

“पिताजी, यह श्रम मैं कर चुका हूँ । अग्नि से इस पत्ती की तेजस्विता नष्ट हो गयी थी, इसलिए इन्हें भूनकर नहीं बदल सकता । रंगों के लिए फिर एक खेती और बढ़ाना यह भी शक्य नहीं । हाँ, चक्की में पीस दिये जा सकते हैं इसके पत्ते ।”—धूम्रशिख ने कहा ।

“पीस देने से फिर वर्तिकाएँ कैसे बनेंगी ? जला हुआ सिरा एक ओर जम न सकेगा और दूसरी ओर चूर्ण हवा के साथ खिंचकर सारा मुख भर देगा ।”—पिता ने कहा ।

हँसकर धूम्रशिख ने कहा—“पिताजी, आपको ज्ञात नहीं है क्या ? बहुतों ने बिना अग्नि-संयोग के ही धूमिका का उपयोग करना आरंभ कर दिया है । अधिकांश में अमजीवियों ने । अग्नि प्रत्येक स्थान में सुलभ भी तो नहीं ।”

“तुमने समस्त वज्रांक को अग्निपूजक बना दिया । अब किस गृहस्थ में धूमिका सुलगाने के लिए दिन भर राख से ढाँक कर अग्नि सुरक्षित नहीं रखी जाती ?”

“यदि इसका धूम्र रूप लोगों को न दिखाया गया होता, तो चूर्ण संभव था ।”—धूम्रशिख ने कहा ।

“और तुम्हारे धूम्रशिख नाम के स्थान में भी किसी और नाम की संभावना होती ।”—पिता ने हँसकर कहा ।

“चूर्ण के रूप में यह ग्रामों के भीतर सहज ही घँस सकता है । ग्रामवासियों को उत्तमनें प्रिय नहीं । कुछ मूल्य भी इसका कम हो जायगा ।”

“नगर के श्रेष्ठीगण कहते हैं कि अब हमें ग्रामों की ओर अपना

प्रचार बढ़ाना उचित है। बहूवादी की भी यही इच्छा है।”—तरला बोली।

“श्रेष्ठियों का स्वार्थ है। वे ग्रामों में बहू-मत फैलाकर राजा के लिए अधिक सघर्ष संगृहीत कर देना चाहते हैं। पर इसकी आवश्यकता ही क्या है? ग्रामों के प्रधानों के यहाँ हमारी त्रयी धीरे-धीरे स्वयं ही पहुँच रही है। साधारण जनता में भी फैल ही जायगी। बहूवादी को हम नहीं दे सकते ग्रामों के प्रचार के लिए। हमें अब किसी प्रचार की आवश्यकता नहीं है। हमारी मुख्य चिन्ता है उत्पादन बढ़ाने की। मुझे तो वह भी नहीं है। तुम्हीं माता-पुत्रों के हित के लिए कहता हूँ। बहू-वादी को अपनी कृषि सौंप दो। उसे कुछ अपने रहस्य की ताली दे दो। तभी तो वह शेष श्रमजीवियों से उसे छिपाकर ही रख सकेगा। अभी उसे बुलाकर उसे अपनी कृषि की मुख्य व्यवस्था सौंप दें।”—पति ने कहा।

ऐसा ही किया गया। बहूवादी उसी समय आकर सेवा में उपस्थित हुआ।

“मुनो बहूवादी, हमारी एक विशेष प्रकार की खेती है। हम उसे और भी बढ़ा देना चाहते हैं।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“मेरे अनेक परिचित श्रमजीवी हैं। आपकी त्रयी के साथ-साथ मैंने उनकी ऐँड़ी से चोटी तक अपना बहू-मत फैला दिया है। बड़ी दक्षता से वे आपकी खेती में लग जायँगे।”—बहूवादी ने कहा।

“परिश्रमी इतने न भी हों, पर सच्चा होना आवश्यक है उनका। जो कहा जाय, उसका अक्षरशः पालन करनेवाला होना चाहिए उन्हें। पारिश्रमिक का कोई प्रश्न ही नहीं है, तुम जानते ही हो। पर अभी तो हमें श्रमजीवियों की भी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी उनके एक संचालक की। वह तुम्हारे-जैसा होना चाहिए।”

“मैं ढँढ़ लाऊँगा कोई एक।”

“ठहरो, उस खेती के पुष्प ही हमें अभीष्ट हैं। जब वह फूलती है, तब उसके वृक्ष बड़ी कोमल दशा को प्राप्त हो जाते हैं। उन फूलों को तोड़ देने से वृक्षों के सूख जाने का भय रहता है। इसलिए किसी भी श्रमजीवी को उन्हें छूने की आज्ञा न होगी।”

“यह क्या कठिन है?”

“इसी से तुम्हारे हाथों में यह व्यवस्था सौंपनी पड़ी है। आज से तुम्हारी नौकरी वहीं हुई। अब हमें किसी प्रकार की कहीं आवश्यकता नहीं है। चलो, तुम्हें वह कृषि दिखा दें। तुम आज तक कभी नहीं गये उधर।”

बहूवादी को वह कृषि दिखा दी गयी और अपना नवीन कर्तव्य संभालकर वह अपनी पत्नी के पास जा पहुँचा।

“आज बहुत मग्न हो बहू-पत्ती ! क्या बात है ?”—बहू ने मृदु परिहास के साथ पति-देवता का स्वागत किया।

“बहू-पत्ती ! हाँ, आज तुम्हारा यह नाम भी कदाचित् सार्थक हो जायगा।”—बहूपति ने अपनी एक अंटी में से कुछ पत्तियाँ निकालकर सावधानी से एक पात्र में रक्खीं—“एक कटोरा और भी लाओ।”

बहूपति ने दूसरी अंटी से भी कुछ पत्तियाँ निकालकर उस पात्र में भी रख दीं।

“क्या हैं ये ?”—पत्नी ने पूछा।

“बहू-पत्ती की पत्तियाँ। बहू, यदि आज मेरा दाँव चल गया है, तो फिर हमारा वह चिर-वियोग का श्रेष्ठिपद शीघ्र ही हमारे पास लौट आयगा।”

“कैसे ?”

“जैसे उड़कर गया था, वैसे ही।”—बहूपति ने एक पत्ती का टुकड़ा हाथों में मसलकर सूँघा। फिर पत्नी से उसे सूँघने को कहा।

पत्नी ने सूँघकर कोई मत प्रकट नहीं किया।

बहूवादी ने वह पत्ती चबाकर थूक दी। फिर दूसरी पत्ती मसली, उसे सूँघा, चबाया भी। वह हर्ष से उछल पड़ा।

“क्या ? क्या ? बड़े प्रसन्न हो उठे। मैं भी तो सुनूँ। कारण क्या है ?”

“तुम भी सुनोगी। उद्दीप्ति तो बनाकर पिला दो, पिष्टकूट न भी हों, चिंता नहीं। एक धूम्रवर्तिका ला दो, आज स्वामी ने मुझे रहस्य का प्रहरी बना दिया है। ‘वेतन भी बढ़ा दूँगा’ कहते थे, और रहने का निवास भी अपनी अट्टालिका के निकट दे देने को कहते हैं ?”

“बस यही तुम्हारी प्रसन्नता का कारण है ?”

“और भी कुछ होगा, तो तुमसे छिपा न दिया जायगा ।”

बारह

दूसरे वर्ष का चक्रोत्सव स्थगित कर देना पड़ा । मेखला गुरुदेव के निमंत्रण के लिए प्रस्तुत थी । पर नागरिक महाराज के साथ के विग्रह में उलझ गये और उधर महारानी ने अपनी श्रद्धा-भक्ति से गुरुदेव का अनुग्रह प्राप्त कर लिया । गुरुदेव ने महारानी को ही उस वर्ष की अधिष्ठात्री का पद दे दिया ।

चक्रकांत ने उस वर्ष के उत्सर्ग के लिए एक तैल-चक्र बनाया था । जिस प्रकार चक्री ने गेहूँ-चावल को आटे में बदल दिया था, उसी भाँति तैल-चक्र ने तिल और सरसों में से चिकनाई निकालकर रख दी । घृत के स्थान पर उपयोग करने के लिए ग्रामवासियों को एक नवीन वस्तु दे दी । जब उत्सव का विचार टूट गया, तब तैल-चक्र बिना किसी वाद्य-अनुष्ठान, भीड़-विज्ञापन के ही ग्रामवासी ग्रामों में घसीट ले गये ।

एक नयी वस्तु का संग्रह हो गया उनके पास । तिल की सन्निधि से उन्होंने उसका नाम तेल रक्खा । उसमें उन्होंने मसालों को भूना, तो उन्हें स्वादिष्ट पाया । उसके संयोग से उन्होंने शाकान्न को पकाया, तो उन्हें भी मधुर ही पाया । परंतु ग्राम के बड़े-बूढ़े कहते थे—“यह नागरिकों का घातुर्य है । तुम्हारी यह एक आवश्यकता बढ़ा दी गयी है । तुम्हें मिला क्या है ? ग्राम का समस्त घृत-नवनीत नगर में खींच लेने के लिए तुम्हें इस तैल-चक्र से अंधा बना दिया गया है । यह तैल तामसी गुण रखता है ।”

नवयुवकों ने ग्राम के बूढ़ों को अंधविश्वासी कहकर उनकी बात हँसी में उड़ा दी ।

तीसरे वर्ष के चक्रोत्सर्ग में समर्पित करने के लिए चक्रकांत दो रथ-चक्र बनाने लगा । महारानी को फिर प्रतिष्ठित कर लेने तथा और

चक्रकांत

भी अनेक राजनीतिक परिस्थितियों के कारण महाराज और गुरुदेव के बीच समझौता हो गया था। इसके फलस्वरूप नगर और राजधानी का बैर जितनी वृद्धि को प्राप्त हुआ, उतना ही ग्राम की नवीन ज्योति और गुरुदेव की प्राचीन प्रतिष्ठा के बीच में भी अंतर पड़ा।

तीसरे वर्ष के चक्रोत्सव के लिए कटिबद्ध हो गये थे नागरिक बहुत पहले से ही, पर रानी और गुरुदेव की संधि से वे कुछ हीन-उत्साह हो गये थे। फिर भी श्रेष्ठियों ने साहस रक्खा। उत्सर्ग की अधिष्ठात्री के लिए मेखला को सम्मत कर लिया गया दिन-भर के लिए।

मेखला प्रतिवर्ष शक्ति-उत्सव में ही सम्मिलित न होती और भी अनेक त्यौहारों में गुरुदेव के दर्शन कर आती। शक्ति-उत्सव की सारी रात हाथ में ज्वलित दीपक लिये जागरण करना कौतुक से आरंभ होकर एक नियम की गंभीरता में बदलने लगा। चक्रकांत न रोक सके उसे अरण्य की दौड़ में और उनका मन नाना प्रकार की चिंताओं से कलुषित होने लगा।

जब जागरण के लिए मेखला मंदिर में जाती, तब चक्रकांत को भी वहाँ जाकर गुरुदेव के पाखंड पर मस्तक विनीत करना पड़ता। एक चक्री प्रतिमा का पूजन करे, यह उसकी हीनता थी; पर नारी की अनुभावना के लिए वह किसी प्रकार इस तिक्त घूँट को निगल जाता।

नगर और राजधानी में पिष्टकूट का परिवार गहराई में प्रविष्ट हो गया था। बहूवादी के बहू-मत के साथ वे दोनों ग्रामों की ओर भी चल पड़े थे। बहूवादी सोचता था, वह भी साथ जाता तो साथ-ही-साथ बहूमत भी फैलता। पर उसकी नौकरी कृषि-उद्यान के भीतर श्रमजीवियों के नियामक के रूप में कर दी गयी थी।

बहूवादी ने वहाँ स्वयं को रहस्य के विकट नैकट्य पर पाया। उसकी पत्नी ने तो कोई स्पष्ट अनुमोदन नहीं दिया था; पर उसे एक अटल विश्वास हो गया था कि बड़ी पत्नी निश्चय धूमिका की ही है। दूसरे श्रमजीवियों को उन पत्तियों का अछूत बनाये हुए था वह। स्वयं उसका वृत्त भी उखाड़कर ले जा सकता था और भी अच्छे प्रकार रहस्य को जान लेने के लिए, पर स्वामी की अट्टालिका

१५४

के निकट कहाँ पर उसका सिन्चन करता बहूवादी ? उद्यान के बाहर भी कहाँ लगा देता ? बहूवादी, धूमिका को बहू-मत में फैला सकता था, उसके रहस्य को नहीं ।

दिन-भर श्रमजीवियों की दृष्टि और स्पर्श को उस कृषि से दूर रख कर उनके चले जाने पर बहूवादी अवसर निकाल कभी-कभी उन पत्तियों को तोड़कर घर ले जाता, उन्हें नाना प्रकार से फिर प्रयुक्त करता । अंत में एक दिन उसने अपने को धूमिका और उद्दीप्ति उन दोनों के रहस्य के भीतर पाया । कोई संदेह न रहा उसे । बड़ी पत्ती को सुखाकर हाथों पर मीज-माँजकर उसने जिस श्रमजीवी को खिलाया, उसने तृप्ति लाभ की । और छोटी पत्ती को भूनकर उसने चूर्ण किया—वह उद्दीप्ति के चूर्ण—सी हो गयी । एक दिन जब उसकी पत्नी ने उद्दीप्ति-चूर्ण माँगा, तब बहूवादी ने स्वनिर्मित चूर्ण उसे दे दिया ! जो उद्दीप्ति उसकी बनायी गयी, उससे बहूवादी को पूरा संतोष मिला । उसने कुछ पूछा नहीं पत्नी से । इतने शीघ्र वह स्वामी के रहस्य को अपनी पत्नी से भी प्रकट करने को प्रस्तुत न हुआ । उसने देखा, उस उद्दीप्ति का पात्र रिक्त कर बहू ने रख दिया और उसकी आँखों में न कोई विस्मय दिखायी दिया, न अधरों पर कोई संशय !

अब उस रहस्य की और भी कठिन चौकसी करने लगा बहूवादी । उस भेद का स्वामी बन जाने से ही उसकी नौकरी अकृत्रिम हो उठी । परंतु उसके लालच बढ़ने लगा । स्वनिर्मित धूमिका पीकर जब उसका माथा धूमने लगता, तब वह अपने मन में नये और सुनहरे सपनों के जाल बुनता । मन में कहता—“परंतु यह तीसरा रहस्य ! यह तो आदि रहस्य है । बिना इससे अवगत हुए कैसे जल और वायु में बहू-मत फैलेगा ? पिष्टकूट पर उद्दीप्ति और उद्दीप्ति पर धूमिका ! यही तो प्राकृतिक नियम है, पृथ्वी पर जल और पृथ्वी-जल दोनों पर धूमिका !

“पिष्टकूट का प्रणेत साधारण मनुष्य नहीं है । मैं तो उसे बुद्धि में भी विशेष पाता हूँ । कूटता ही तो बुद्धि की श्रेष्ठता है । धूम्रशिख का रहस्य केवल प्रकृति उपजात है । जिस पत्ती में उसने वह पत्ती छिपायी है, वह तो उद्यान के बाहर भी प्रशस्त होकर उत्पन्न होती है । तरला ने अग्नि का सहारा लिया अपना भेद छिपा देने को, प्रकृति

चक्रकांत

को रहस्य बना दिया अपनी बुद्धि के कैशल से । वहाँ तक भी मेरी पहुँच हो गया । परन्तु यह पिष्ठकूट, चक्रकांत के आटे में यह कौन-सी अभिमंत्रणा मिल गयी ? इसका रहस्य जान लेना कदाचित् इतना सरल नहीं है !”

बहूशरी, उस खेती का प्रहरी, उसने एक दिन विचारा—“अब ले इस रहस्य को जान लेने से तो इसका कुछ भी मूल्य नहीं है । साथ में ये वृत्त भी तो चलने चाहिये । उससे पहले अपना डेरा बाहर ले चलना होगा उद्यान से ।”

उसी दिन घर जाकर उसने बहू से कहा—“बहू, उद्यान में कुछ अकेली पड़ गयी हो ?”

“नहीं तो ?”—प्रश्न की विचित्रता में भर कर पत्नी ने उत्तर दिया ।

“हाँ, हाँ, मैं जानता हूँ । साथ बराबरो का होता है । स्वामी-स्वामिनी की चहल-पहल कितनी ही विशाल क्यों न हो, हमारा उनका तो स्वामा-सेवक का ही संबन्ध है न ?”

“धन तो आपके पास कुछ जमा हो ही गया है, नगर में एक बना-बनाया मकान, कहीं निकट ही क्रय कर लो, तो हानि क्या है ?”

“नगर में तो नहीं, ग्राम में कुछ भूमि मोल लेने का विचार कर रहा हूँ ।”

“तुम अपने को बार-बार श्रेष्ठी-कुल-संभूत कहते हो । ग्राम में जाकर क्या खेती करोगे ? मैं तो नहीं जा सकती वहाँ ।”

“खेती कौन अशुद्ध वस्तु है ? यहाँ नहीं करते हमारे स्वामी क्या खेती ? अरे बहुत दिन तक अपने हाथ से भी उसे संपन्नता देते रहे । गेहूँ की खेती एक वस्तु है, मुद्राओं की दूसरी ।”

मुद्राओं की खेती के लिए भी मुझे ग्राम का शून्यता सत्य नहीं । यहाँ क्या कम दे रक्खा है भगवान ने । फिर स्वामी ने बराबर हमारा वेतन बढ़ाया है । व्यय ही क्या है हमारे ? जाँ कुछ द्रव्य मिलता है, सब जमता ही जा रहा है । रहने को निवास मिला है, पहनने को वस्त्र, खाने-पीने और फूँकने को पिष्ठकूट, उद्दीप्ति और धूमिका । फिर लालच में क्यों सनते हो ?”

महत्वाकांक्षा का नाम लालच रखती हो ! श्रेष्ठिपुत्र हूँ । बज तक १५६

अपनी अट्टालिका के द्वार पर दोहरे प्रहरी नहीं नियुक्त कर सकता, तब तक मेरा संतोष मुझे धिक्कार देगा। ग्राम में कौन-सी शून्यता है ? मुद्रा की भंकारों पर वहीं अट्टालिकाएँ खड़ी हो जायँगी।”

“नौकरी पर आने के लिए कितना दूर हो जायगा ?”

“नौकरी छोड़ देंगे।”

“नहीं, इतनी बड़ी बात कहने के योग्य धन संग्रहीत नहीं हुआ है तुम्हारे पास।”

“निकट ही कहीं मकान मोल लो, तो ठीक है।”

“उद्यान के बाहर कहीं तो टला जाय” —यह सोचकर स्वामी के साथ इस विषय पर बात-चीत करने की ठानी बहूवादी ने।

खेती में कलियाँ प्रकट हुईं। समस्त श्रमजीवी विदा कर दिये गये।

कलियों में पुष्प प्रकट हुए। पुष्पों पर बहूवादी ने फलों का अनुमान लगाया और फलों पर बीज का। एक नयी आशा उसके मन में चमक उठी—“बीज से भी तो वृक्ष का प्रादुर्भाव होगा। उखाड़कर ले जाया गया वृक्ष जमा न जमा। फिर बीज तो उमकी सूक्ष्मता के कारण सहज ही हस्तगत कर ले जाया जा सकता है।”

बीज के विचार ने बहूवादी के ग्राम के विचार को अभी आगे बढ़ने नहीं दिया। पर धीरे-धीरे उद्यान की दूरी बढ़ाने के लिए उसका श्रम जाग उठा।

एक दिन उसने स्वामी से कहा—“श्रमजीवियों को छुट्टी दे दी जाने से मेरा भी श्रम हलका हो गया उद्यान के भीतर। यदि श्रीमान मुझे आज्ञा दें, तो निकट ही कहीं नगर में एक छोटा-सा मकान बना लेने का उद्योग करूँ मैं।”

“क्यों ? जो गृह तुम्हें दिया गया है, उसमें कौन-सी असुविधा है तुम्हें ?”

“असुविधा तो कोई नहीं है हमें। आप-जैसे श्रीमान की नौकरी कर अभी तक भी मेरा कोई अपना मकान नहीं हो सका नगर में, इस पर मेरे जाति-भाई श्रेष्ठी कटाक्ष करते हैं।”

“मकान बना लेना, पर अभी तुम्हें अवकाश कहाँ है ? श्रमजीवियों के जाने से तो और भी उत्तरदायित्व तुम्हारा बढ़ गया। वास्तव में

चक्रकांत

वह खेती बीजों के लिए की गयी है। जब तक उसका एक-एक बीज गिनकर हमारे भंडार में जमा नहीं हो जाता, तब तक तुम्हें छुट्टी नहीं मिल सकती।”

बहूवादी ने भी मन में कहा—“और बिना बीज के छुट्टी लेकर ही तुम्हें क्या करना है !”

तेरह

उधर चक्रकांत के रथ बनकर तैयार हो गये, श्रेष्ठीगण उत्सव की तैयारियाँ करने लगे और उधर राजा के कर्मचारियों ने राज्य की ओर से नगर और ग्राम दोनों विभागों में घोषणा की—“महाराज ने कठिन चेतावनी दी है कि शक्ति-उत्सव की तिथि से टकराकर कोई भी उत्सव राज्य के किसी ग्राम में नागरिक इस वर्ष न कर सकेंगे। यदि किसी ने इस नियम को तोड़ा, तो वह दण्डनीय होगा। उसकी धन-सम्पत्ति छीन ली जायगी और उसे कारागार में अनिश्चित काल के लिए बन्दी कर लिया जायगा।”

उद्दीप्त और धूमिका पी-पीकर श्रेष्ठियों ने इस राजाज्ञा पर मंत्रणा की। एक ने कहा—“यह राज्य-प्रतिबंध असह्य है हमें। जब तक हम भगवान की दृष्टि में कोई पाप नहीं करते, राजा कुछ नहीं कर सकता हमारा। अब एकतंत्री राजा का बहू-मत से सामना है।”

दूसरा बोला—“वज्रांक की इस समृद्धि का स्पष्ट कारण चक्र ही है। हम उसका उत्सव मना रहे हैं, तो पाप क्या है यह, अपराध क्या हो गया हमारा? कौन है राजा हमें उससे रोकनेवाला? दो वर्ष पहले हम वह उत्सव मना चुके हैं। इस वर्ष भी मनायेंगे।”

तीसरे ने कहा—“धार्मिक विचार, हमारे नितांत अपने विचार हैं। राजा उनके सूत्र अपने हाथों में नहीं ले सकता। गुरुदेव की जय पुकारने के लिए हम बाध्य नहीं किये जा सकते। हमारी इच्छा है, हम पेड़ को पूजें, पथर को पूजें, गिरि-सरिता, पशु-पक्षी—चाहे जिसकी उपासना करें। क्या चक्र एक आकार नहीं? और क्या उसके

आशीर्वादों की अजस्र धारा नहीं बरस रही है ? हमारे ऊपर ? क्या केवल अप्रत्यक्षता ही देवत्व का अलंकार है ? क्या हमें राजा की मुद्रा नियमित रूप से उसे ही नहीं लौटा देते ? फिर क्या है हमारी अराजकता, जो अन्याय के बंधन राजा हमारे ऊपर रखना चाहता है ?”

चौथा बोला—“पिष्टकूट, उद्दीप्ति और धूमिका, इनका भी तो उल्लेख करो भाई ! मैं कहता हूँ, यह नवीन तेज हमें इन्हीं की कृपा से मिला। आज तक भीगी बिल्ली की भाँति हमने राज्य के दोनों सिरों पर रहनेवाले इन निरंकुशों के उल्टे-सीधे अनुशासनों को सिर-आँखों पर रक्खा। इस शांतिदायिनी त्रयी को गुरुदेव ने अपवित्र बता इसके उपयोग को वर्जित किया। किसी ने नहीं सुना। जो भाव या वस्तु मनुष्य की उन्नति न होने दे, वही तो अपवित्र है। इस त्रयी ने हमारे विभिन्न श्रमों की योजना भी दी है और इसने हमारे श्रम का प्रति-कार कर हमें शांति भी उपलब्ध करायी है। किसने गुरुदेव का विधान माना ? प्रजा में बहू-मत उत्सृष्ट हो गया। क्यों नहीं महाराज अपने दंड के बल से गुरुदेव का अभिमत प्रजा के मत से मिला सके ? यदि महाराज अपने हठ पर दृढ़ रहे, तो जो दशा गुरुदेव की हुई है, वही उनकी भी हो जायगी।”

और एक श्रेष्ठी ने कहा—“रह गयी तिथि, उसे हम भगवान के काल-कोष में से निकालकर लाये हैं, राज-कोष में से नहीं। जिस तिथि को हमारी इच्छा होगी, हम उस उत्सव का पव मनायेंगे। हम शक्ति-पूजा के दिन ही उसे संपन्न करेंगे।

महाराज ग्राम और नगर की इस मैत्री से शंकाकुल हो गये हैं। गुरुदेव का मान रखने की प्रेरणा नहीं है इसमें, वह अपने मुकुट का स्थान रखना चाहते हैं।”

सब श्रेष्ठियों ने मिलकर राज-निर्बंध को तो तोड़ देने का दृढ़ निश्चय किया। वे श्रेष्ठी-नायक वरद के पास गये, और उस पश्चात्पद होते हुए श्रेष्ठी को फिर उत्साहित कर दिया।

एक दूसरे ग्राम को इस वर्ष के उत्सव के लिए चुना गया। निवास-मंडप, हाट-दूकानों का निर्माण आरंभ हुआ। निर्माणकारी—

चक्रकांत

श्रेष्ठी, प्रबंधक और श्रमजीवी जो, कुछ दिन भर में बनाते, राजा के सैनिक वह रात भर में ध्वस्त कर मिटा डालते।

श्रेष्ठियों में चिन्ता फैल गयी। राजा के सशस्त्र सैनिकों का सामना उनके लिए असंभव था।

एक श्रेष्ठी ने सुझाया—“पिष्ठकूट-कुटुंब की त्रयी से इन सैनिकों में तत्परता है, उसी से ये इतने शक्तिमान हैं। यदि वह त्रयी इनके पास जाने से रोक दी जाय, तो बल हमारे साथ हो जायगा, इनके शस्त्रास्त्र धरे रह जायेंगे, उनमें गति न उत्पन्न हो सकेगी फिर।”

बात बहुतों की समझ में आ गयी। वे पिष्ठकूटक के उद्यान को चले।

सबमें चतुर श्रेष्ठी बोला—“आपको कदाचित् अपनी शक्ति का भान नहीं है। हम कई नगरों के प्रतिनिधि श्रेष्ठी एक संकट में पड़ गये हैं।”

पिष्ठकूटक उन्हें अपने सुसज्जित कक्ष में ले गया और स्त्री-पुत्र के साथ उनकी अभ्यर्थना करने लगा—“एक साथ ही इतने श्रेष्ठियों ने मेरे घर पधारकर मेरा गौरव बढ़ाया है। परन्तु गुरुदेव या महाराज के पास जाते तो आपका संकट टल जाता।”

एक ने उत्तर दिया—“चक्रकांत और आपकी त्रयी से गुरुदेव की सारी महिमा चली गयी। राजा के पास हम इसलिए नहीं जा सकते कि अभियुक्त वही है।”

“तो आप लोग पिष्ठकूट के ऊपर गरमागरम उद्दीप्ति पीते और उसके ऊपर अखंड रूप से पीते रहते धूमिका, सहज ही कोई उपाय निकल आता।”—पिष्ठकूटक बोला।

पिष्ठकूटक ने पूछा—“अब तो आप लोगों को उनके मिलने में कोई कठिनाई नहीं है न?”

“नहीं, कुछ नहीं है। पर हमारे विपक्ष के लिए भी तो त्रयी इतनी ही सुलभ है। वे प्रचुर परिमाण में उसका उपयोग करते हैं और हमको उनसे दब जाना पड़ता है।”

पिष्ठकूटक ने पूछा—“बात क्या है?”

हम ग्राम और नगर का मेल कराने के लिए प्रति वर्ष एक उत्सव करते हैं। आपको ज्ञात है।”

“अब उसकी क्या आवश्यकता है ? पिष्टकूट, उद्दीप्ति और धूमिका ये तीनों आप लोगों के उस उद्देश्य को अपने आप सिद्ध कर देंगे। हम लोग शीघ्र ही ग्रामों में उनका प्रचार करनेवाले हैं। जिस दिन उनका वहाँ पूर्ण प्रचार हो जायगा, उस दिन गहरी मैत्री हो जायगी नगर और ग्राम के बीच में। फिर क्या चिंता है ?”

एक श्रेष्ठी ने विरोध किया—“राजधानी में तो आपकी त्रयी जाती है, फिर क्यों उसका और नागरिकता का कलह बढ़ता जा रहा है ?”

पिष्टकूटक हँसकर बोला—“भावना भी तो साथ-साथ काम करती है। जिस भावना के साथ नगर में इस त्रयी का प्रचार किया गया, वह दुर्ग के भीतर नहीं जा सकी।”

“कौन-सी भावना है वह ?”

“वह भावना है बहुमत की। राजा कहता है—मैं एक बहुत हूँ और प्रजा कहती है हम बहुत—एक हैं। एक का बहुत हो जाना एक बात है और बहुतों की इकाई एक दूसरी बात। नगर और राजधानी का मूलतः यही अंतर है। मैं शीघ्र ही बहुवादी को अवकाश दे दूँगा और वह त्रयी के प्रचार के साथ-साथ आप ही और मेरा दोनों का काम कर देगा।”

“हम इस वर्ष नगरों की ओर से ग्राम को रथ-चक्र समर्पित करेंगे। चक्रकांत बड़े मनोयोग से उसका निर्माण कर रहे हैं।”

“क्या है यह रथ-चक्र ?”—धूम्रशिख ने पूछा।

एक श्रेष्ठी ने उत्तर दिया—“उसमें पशु जोतकर मनुष्य-स्त्री या धन-धान्य बड़ी त्वरित गति से स्थानांतरित किये जायेंगे।”

“ग्रामों को क्या आवश्यकता है फिर उसकी ?”—तरला बोली।

“पिताजी, आप हमारे लिए मोल ला दीजिये उसे आज ही। चाहे जितना भी मूल्य माँगें चक्रकांत।”—धूम्रशिख बोला।

श्रेष्ठियों में से बहुतों ने सोचा—“यह तो लेने के देने पड़ गये !”

एक श्रेष्ठी तुरंत ही उनके उत्साह को ठंडा करने के निमित्त बोला—“चक्रकांत दो रथ-चक्र बना रहे हैं। एक सवारी के लिए और एक माल के लिए। दोनों का श्रेष्ठियों ने पहले ही मूल्य चुका दिया है।”

“वस्तु जब तक दी नहीं गयी है, उस पर हम भी मूल्य लगा सकते हैं। हमारा मूल्य अधिक होने पर चक्रकांत को उसे हमें ही सौंप देना पड़ेगा। वह व्यवसायी नहीं हैं क्या ?” धूम्रशिख बाला—“पिताजी एक रथ-चक्र पर हम भ्रमण के लिए जायँगे प्रचार के साथ-साथ और दूसरा हमारे माल को ग्राहकों के पास पहुँचा देगा शीघ्र ही।”

“नहीं, नहीं—यह नहीं हो सकता। आप लोग यहाँ नागरिकों का सुख बढ़ाने आये हैं। उनकी प्रतियोगिता शोभा न देगी आपको। आपका शत्रु अरण्य में रहता है। क्या आप नहीं पहचानते उसे ? हमारे उत्सव का उद्देश्य उसी के महत्त्व को कम करना है। इसलिए आपको हमारा पक्ष लेना चाहिए। आपके लिए रथ-चक्रों का निर्माण फिर हो जायगा।”

“नहीं पिताजी, बिना मूल्य पायी हुई वस्तु का उचित उपयोग न कर सकेंगे ग्रामीण। जनता को त्रयी चाहिए सबसे पहले, उनका आटा चावल नहीं।”—धूम्रशिख ने कहा।

पुत्र को आश्वासित कर पिष्टकूटक ने श्रेष्ठियों से कहा—“फिर क्या चाहते हैं आप ?”

“हम चाहते हैं, आप राजधानी में अपनी त्रयी का भोजना बंद कर दें कि सैनिक उनका उपयोग न कर सकें।”—एक श्रेष्ठी ने कहा।

“यह कैसे हो सकता है, मैं व्यवसायी हूँ। जो मेरी वस्तु का मूल्य देगा, वह उसे पाने का सर्वाधिकारी है।”—पिष्टकूटक ने कहा।

“उत्सव की तिथि तक रोक दीजिए।”

पिष्टकूटक चिंता कर कहने लगा—“श्रेष्ठी वरद कहाँ हैं ?”

“अपने नगर ही में। आप उनका अभिमत जान सकते हैं। हमने उन्हीं की इच्छा आप पर प्रगट की है।”

श्रेष्ठियों के विदा हो जाने पर धूम्रशिख ने हठ की—“पिताजी, चलिए न चक्रकांत की उद्योगशाला से वे दोनों रथचक्र क्रय कर लावें आज ही। मेरे मन में बड़ी उत्कंठा हो गयी है उनके लिए।”

तरला बोली—“और मेरे भी तो ?”

“कैसी अनुत्तरदायित्व-भरी आकांक्षा है तुम्हारी ? तुम्हारी दोनों की खेती के बीज पक चले हैं।”

“बहू-वादी सतर्क प्रहरी है उसका। अभी तो लौट आयेंगे। यदि चक्र मोल मिल गये, तो उन्हीं में बैठकर आयेंगे और यह दूरी और भी कम हो जायगी।”—धूम्रशिख ने कहा।

“हम सब-के-सब उस परिपक्व रहस्य की चौकसी छोड़कर कभी उद्यान छोड़कर नहीं गये। हवा भी तो उन बीजों को उड़ाकर हमारे भेद को उद्यान के बाहर उगा सकती है।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“फिर उसे हमारी उपस्थिति का ही क्या भय है? केवल एक बीज में ही हमारा व्यवसाय निहित नहीं है पिताजी। छोड़िए भूठी शंका। अभी आ जायेंगे।”—धूम्रशिख ने सम्मत कर लिया पिता को।

उन तीनों ने उद्यान के बाहर को पैर रक्खा।

तरला इन सब बातों से अवगत, बहू से लौट आने तक बड़ी सावधानी से अट्टालिका की देख-भाल करने के लिए कह गयी थी।

बहू दौड़ी-दौड़ी खेतों पर पति के पास पहुँची—“तुमने आज प्रभात-समय भोजन नहीं किया। मैं चूल्हे पर उद्दीप्ति रख आयी हूँ, चलो।”

“स्वामी कहा हैं?”

“पिता, पत्नी और पुत्र चक्रकांत के एक नये चक्र का सौदा करने गये हैं नगर में।”

“सच?” हर्ष में भरकर बहूवादी बोला—“बहू, तब आज की भूख ही नहीं,—समस्त जन्म की भूख मिटा दो जायगी। केवल अपनी तुम्हारी ही नहीं, आमवासियों की भी।”

बहू न समझी कुछ—“क्या कह रहे हो तुम यह?”

“तुम सोचती थीं, तुम्हारा बुद्धिजीवी पति श्रमजीवा बनाकर उन्नति की दौड़ में पीछे कर दिया गया है। आज बता देता हूँ तुम्हें यह दाने की खेती नहीं है, यह है द्रव्य की खेती। अब हम इस उद्यान के बदी नहीं रहे।”

“यहाँ तो हमने जीवन के अनेक सुखों को पाया है, इसे तुम कारागार कहते हो?”

“हाँ, हाँ, चलो। पिष्ठकूटक बाहर से आकर यहाँ श्रेष्ठिपंक्ति में सम्मिलित हो जाता है और बहूवादी अट्टालिका के अभाव से उसी कुल में जन्म लेने पर भी श्रेष्ठी नहीं कहा जा सकता। अब कहा जायगा वह। वे दुर्दिन बीत गये।”

“नहीं समझी।”

“लो समझो। इन छोटी पत्तियों में उद्दीप्ति का रहस्य छिपा है और उधर उन खेतों में धूमिका का धुआँ उठता है।”

“सच !”—बहु चमक उठी।

“हाँ, तुम्हें अपने हाथ से इसकी उद्दीप्ति बनाकर पिला चूक हूँ और तुम्हारी किसी चेष्टा से अंतर प्रकट नहीं हुआ था। किसी से कह देने को नहीं बताया गया यह तुम्हें। जितना छिपा सकेंगे इसे उतना ही हमारा श्रेष्ठत्व प्रकट होगा वज्रांक में। अपने वस्त्र से एक टुकड़ा फाड़कर दो मुझे।”

“क्या करोगे ?”

“इन दोनों के बीज संग्रह कर ले जायँगे। यही तो इस कारागार से निकल भागने की कुंजियाँ हैं।”

“स्वामी की चोरी !”

“चुप रहा। समस्त बीज-भंडार भगवान का है। उसने वृत्त लताओं को धरती पर फैला देने के लिए ही उनमें बीज उपजाय हैं। प्रकृति को मनुष्य रहस्य नहीं बना सकता। अट्टालिका बनाकर मैं भी इन बीजों को प्रकृति में बो दूँगा।”

बहु के दिलें हुए वस्त्र में बहु-वादी ने दोनों प्रकार के बीजों का संग्रह किया। दृढ़ता से पाटली को बाँधकर बहु को देत हुए कहा—“लो, छिपाकर ले जाओ इन्हें। विलंब न करो और सावधानी से घर के भीतर ले जाकर छिपा दो। यदि पिष्ठकूटक जान जायगा, तो फिर हम दोनों को अपनी उत्तम भट्टी में भोंककर ही सुख की नींद लेगा। इस रहस्य को साँस में बाँधकर छिपा लो कुछ दिन, हमारा सौभाग्य हमारे वश में आ गया। जाओ शीघ्रता करो।”

“पिष्ठकूटक का भेद ?”

“अधिक लालच न बढ़ाओ। यदि वह प्राप्त न हो सकेगा, तो क्या हमें संपन्न कर देने के लिए ये दाँव कम हैं ? मुख्य वस्तु उद्दीप्ति और धूमिका है। पिष्ठकूटक का स्थान रोटी ले लेगी। प्रचारक बहुवादी है—जैसा भी बहु-मत चला दूँगा, चल जायगा। बस अब चल दो बिना भौन-भंग किए।”

जब पिष्ठकूटक ग्राम की ओर धावमान रथ को अपने उद्यान में

खींच लाने का उद्योग कर रहा था, उसका रहस्य पोटली में बँधकर उड़ चला ग्रामों की ओर !

चक्रकांत के सुरम्य निवास का सिंह-द्वार पार करते ही तरला बोली—‘कितनी परिष्कृत रुचि से सँवारा गया है यह निवास । एक हम हैं, कहीं राख और कोयला पड़ा है, तो कहीं खाद और भूसे का ढेर !’

“चुप रहो तरले । अपनी अट्टालिका के भीतर तुम वज्रांक की राती हो । हमारी त्रयी के जाल में चक्रकांत की प्रतिभा भी जकड़ गयी है । क्या चक्रकांत की उद्योगशालाओं में कूड़ा नहीं जमा हो जाता ?”—पिष्टकूटक ने तड़ाक से उत्तर दिया ।

तीना का ध्यान आगे मैदान में तीव्रगति से दौड़ते हुए रथ ने खींच लिया ।

“यही तो है रथ-चक्र ।”—धूम्रशिख अतिरेक से बोल उठा—

“अश्वचालित चक्रों के ऊपर कौन-कौन बैठे हैं ये ?”

“चक्रकांत, मेखला और कदाचित् उनका अनन्य मित्र श्रेष्ठी वरद ।”

“हाथों में क्या है चक्रकांत के ?”—तरला ने पूछा

“एक में सूत्र और दूसरे में दंड—कदाचित् प्रगति का संकेत ।”

—पिष्टकूटक ने समाधान किया ।

उनके निकट पहुँचते ही चक्रकांत ने रथ रोक लिया और कहने लगा—“आइए, आइए आप लोग स्वागत हैं । आप समय पर आये हैं, और इस रथ में स्थान का संकोच नहीं है ।”

पिष्टकूटक का कुटुंब साह्लाद रथ में बैठ गया । रथ चक्रकांत की सीमा में हा परिक्रमण करने लगा ।

धूम्रशिख ऊब उठा—“रथ के पूरे वेग का परिचय नहीं मिल सकता इससे हमें ।”

“बाहर नहीं जा सकते, इससे इसके उत्सव के प्रदर्शन की महिमा जाती रहेगी ।”—वरद ने कहा

“यह भी कोई बात हुई ! राजधानी के पथ में चलिए ।”

“राजा के सैनिकों ने कोई आक्रमणकारी समझ हम पर बाण चला दिय तो ?”—मेखला ने कहा ।

“तो अरण्य की ओर ही चलिये ।”—धूम्राशिख ने कहा ।

चक्रकांत

चक्रकांत ने वरद की सम्मति जानने को उसकी ओर मुख किया।

“इतनी सुंदर और अद्भुत वस्तु क्या ग्रामीणों को दे देने के लिए है ? नगर का अन्न और ग्राम में खाद ढोकर वे इसे शीघ्र ही नष्ट कर देंगे।”—तरला ने कहा।

मेखला हँसकर बोली—“माल ढोने के लिए इसके दूने आकार का वह दूसरा रथ तैयार हो चुका है। दो वृषभ उसका संचालन करेंगे।”

तरला ने उसे देखा और उसकी शक्ति की कल्पना कर उसके मुख में पानी भर आया—“दो-दो रथ उन्हीं के क्यों हो जायँ ?” उसने अपने पति से कहा—“आपके पास क्या इन्हें क्रय कर लेने की सामर्थ्य नहीं है ?”

पिष्ठकूटक ने पूछा—“ग्रामवासियों ने कितना मूल्य लगाया है इनका ?”

“केवल ग्रामवासियों का सद्भाव मिलेगा नागरिकों को इसके मूल्य में। जल और पवन-चक्र को भाँति यह बिना मूल्य ही समर्पित होगा ग्रामवासियों को।”—वरद ने कहा।

“देखिये श्रेष्ठिवर, आप भी व्यवसायी हैं और मैं भी। व्यवसाय के भीतर समर्पण नाम की वस्तु उसकी दुर्बलता है। आपने श्री चक्रकांत को तो चुकाया होगा इनका मूल्य ? मैं उसका दूना देने को प्रस्तुत हूँ।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“आप चक्रकांत की वाणी को खंडित करने आये हैं, पर वह मुद्रा को उसके सम्मुख नगण्य समझते हैं।”—वरद ने कहा।

“इन यानों को ग्रामों को दे देने से मुझे कुछ कम लाभ नहीं पहुँचेगा। मैं अपने व्यवसाय के लिए कृषि पर निर्भर हूँ। कृषि का उत्पादन ग्रामों से नगर में शीघ्रता से दुलकर मुझे सुविधा पहुँचा देगा। पर मैं भी तो इसे ग्रामवासियों के लाभ के लिए क्रय कर रहा हूँ। वे बेचारे अभी तक इस त्रयी से वंचित ही हैं। इनमें भरकर मैं ग्रामों में उसका शीघ्र प्रचार कर देना चाहता हूँ।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“धैर्य रखिए, फिर इसके पश्चात् आप ही के लिए बनाऊँगा।”—चक्रकांत ने कहा।

“नहीं, पिताजी ! मैं नगर में धूमिका बेचना बंद कर दूँगा।”—धूम्रशिख बोला।

पुत्र को संकेत से वज्रित कर पिता ने कहा—“एक रथ तो दे दीजिये मुझे इन्हीं में से। मैं तो कहता हूँ दोनों ही दे दीजिये। दूना मूल्य ले लीजिये मुझसे। मेरी पत्नी और पुत्र के रोप को न बढ़ाइये। पिष्टकूटों के बदले रोटी से आप मेरा सामना कर सकते हैं। उद्दीप्ति और धूमिका के अभ्यास में आप किसकी आहुति देंगे ?”

चक्रकांत डिगने लगा।

“रथ बाहर सड़क पर तो निकालिये। इसके पूर्ण वेग में चालित होकर मस्तिष्क ठीक-ठीक काम करेगा। राजधानी की ओर चलने में भय है, तो अरण्य की ओर चलिए।”—धूम्रशिख ने कहा।

मेखला का मुख चमक उठा—“हाँ ठीक तो है।”

वरद की ओर देखकर चक्रकांत ने रथ के सूत्र बाहर को संचालित कर दिये। दंड के अल्प संकेत पर ही अश्व परिधावित हो गया बाहर के सीधे मार्ग पर। सबके सब एक कल्पनातीत आनंद से भर गये।

वरद बोला उठा—“चक्रकांत, ग्रामों की दृष्टि बचाकर ही तो।”

रथ दौड़ चला। मार्ग में जिन अपरिचित मनुष्यों ने उसे देखा, वे अधिक न देख सके उसे। उसके अनुगमन में हाँफकर थक गये।

कुछ दूर दौड़कर अश्व को विश्राम के लिए रथ की चाल मध्यम कर दी गयी।

“नहीं श्रेष्ठिवर, आपको राजा की अवमानना करना उचित नहीं है। आप गुरु की करें, मुझे आपत्ति नहीं। राज-सैनिकों में त्रयी का बहुत प्रचर है। त्रयी कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षों में उत्तेजना पहुँचा देती है। यदि सैनिकों ने आवेश में आकर दमन की पराकाष्ठा कर दी, तो ?”—पिष्टकूटक बोला।

उन दोनों के मुख पर कुछ विरसता प्रकट हुई। मेखला तो और भी त्रस्त हो गयी। कहने लगी—“उत्सव की तिथि बदल दो, तो फिर महाराज संतुष्ट हो जायेंगे।”

“उत्सव करो ही मत।”—पिष्टकूटक ने कहा।

“नहीं, उत्सव होगा, तो उत्सव की तिथि वही होगी जो शक्ति-उत्सव की है।”—वरद ने कहा।

“तब निश्चय वज्रांक के नगरों में काले बादल छा जायेंगे बिना वर्षा के।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

“कैसे ?”—मेखला ने पूछा।

“नागरिक यदि अपनी अट्टालिकाओं की ओट से राजसैनिकों पर पत्थर बरसायेंगे, तो वे उनमें आग लगा देंगे।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

मेखला ने दोनों हाथों से मुख ढक लिया। उसने त्रास पाकर पुकारा—
—“चक्रकांत !”

“चक्रोत्सर्ग की जड़ में क्या आशय है आपका ? ग्राम की निधि सहज ही नगरों में आकर भर जाय—यह तो कोई बात नहीं है। स्वार्थ कुछ और है ?”—पिष्ठकूटक ने पूछा।

“देखो पिष्ठकूटक, तुम हमारे मित्र हो। ग्राम की मित्रता लेकर हम इस राष्ट्र के सबसे बाहरी और सबसे भीतरी इन दो सिरों को पाखंड से स्वच्छ कर देना चाहते हैं।” वरद ने कहा—“अरण्य में गुरुदेव का कैवल्यवाद और राजधानी में महाराज का एकतंत्र—ये दो विडंबनाएँ अब हमें अलग हो चुकी हैं—हम इन्हें जड़ कर देना चाहते हैं।”

पिष्ठकूटक ने वरद के हाथ पर हाथ मारकर कहा—“मेरी त्रयी ही तो वह सहज साधना है। जब उँगली देखकर ही काँड़ भाग जाय, तब फिर उसके लिए खड़ निकालने से क्या प्रयोजन ? मेरी त्रयी ने गुरुदेव और महाराज की संधि को तोड़ दिया।”

“कैसे ?”—चक्रकांत ने पूछा।

“गुरुदेव ने उन तीनों को अशुद्ध घोषित किया और राजा पहले गुरुदेव से बहुत दिन तक छिपाकर फिर प्रकट में त्रयी के अभ्यास में रत हो गया। दोनों विभक्त हो गये—दोनों दुर्बल पड़ गये हैं आज ! और मेरा बहूवादी, उसने समस्त नगर में बहू-मत फैलाकर अरण्य और राजधानी के विरुद्ध एक अद्भुत शक्ति जमा कर दो ही नगर में।”

“ग्राम में भी तो भेजिए उसे।”—वरद ने कहा।

“हाँ, ग्राम में भेजने का प्रबंध कर रहा हूँ। आप ये दोनों रथ मुझे दीजिए तो सही।”—पिष्ठकूटक ने कहा।

मेखला बोली—“दे दीजिए। महाराज से पकट संघर्ष को बचाइए।”

“मूल्य की कोई चिंता नहीं है मुझे। फिर देखिए, रथों के मिल जाने पर किस कौशल से बहूवादी नगर के बहू-मत को गाँवों में फैला देता है। फिर देखिए, ये सिरं पर के एकाधिकारी उस बहू-मत की प्रचंड धारा में कहाँ पर टिकते हैं। चक्रोत्सव राजा और गुरु इनकी संधि कराता है, नहीं समझे आप ?”—पिष्ठकूटक ने कहा।

चक्रकांत भी पिष्ठकूटक के पक्ष में बोला—“श्रेष्ठि महोदय, दे दीजिए रथ इन्हें। चक्रोत्सव स्थगित कर देने से हमें कोई हानि नहीं, लाभ ही है। सब श्रेष्ठियों को समझा दिया जायगा, वे मान जायँगे”

“जैसा उचित निर्णय करें आप।”

धूम्रशिख रथ में उठकर बोला—“चक्रकांत महोदय, मूल्य का कोई झगड़ा नहीं रहेगा। इसलिए अब आप इधर आ जाइए। रथ के सूत्र मुझको दीजिए, दंड भी।”

दोनों हस्तगत कर धूम्रशिख ने सारथी का स्थान संभाला और विश्रामप्राप्त अश्व को दंड का स्पर्श दिया, अश्व वायु से बातें करता हुआ दौड़ गया। वे लोग गुरुदेव के आश्रम के निकट आ गये थे। अश्व के वेग ने पिष्ठकूटक के कुटुम्ब के मन में अप्रतिम वेग भर दिया था। धूम्रशिख के दंड से प्रतिहत होकर अश्व ने और भी प्रचंडता धारण की !

अश्व के चारों चरणों और दोनों चक्रों से उठती हुई धूलि के बीच में छिपा हुआ रथ अपनी अदृष्ट प्रगति से दूर के अकले-दुकेले दर्शकों के मन में कल्पनातीत भय उपजाने लगा।

एक शिष्य श्रमर्धिदुओं से लथपथ होकर गुरुदेव के पास हाँफता हुआ पहुँचा और दूर ही से चिल्लाकर बोला—“गुरुदेव, भयानक अभिशाप-सा ग्राम की ओर से न जाने क्या चला आ रहा है ! सर्व-नाश की आँधी है या यह किसी प्रलय का आरंभ ! देवी का कोप है या किसी दानव का आक्रमण। देखिये, वह मार्ग में धूलि के बीच में उसकी गड़गड़ाहट क्या अनिष्ट की आशंका नहीं है ?”

गुरुदेव ने ध्यान से देखा। आश्रम के सभी शिष्यों ने निहारा।

“आँधी-भूचाल नहीं है यह। निश्चय उसी चक्रा की कोई राक्षसी माया है।” गुरुदेव ने कहा—“सब शिष्यगण चारों ओर से मंदिर

को घेर लो। मैं मंदिर के भीतर जाकर माता के कोप को जगाता हूँ।” गुरुदेव ने मंदिर में प्रविष्ट होकर उसके द्वार बंद कर लिये।

आँखें बन्द कर शिष्यगण, रथ को गड़गड़ाहट को डुबा देने के लिए द्रुत तालों में मंदिर के घंटे बजाने लगे।

भीतर गुरुदेव माता के चरणों पर अपना मस्तक रखकर कहने लगे—“हे आद्याशक्ति ! तेरी इच्छा का अन्त नहीं मिलता। चक्रोत्सव से ये लोग तेरी महिमा को और भी बढ़ा गये। क्या आज इन्हें मृत्यु ने निमंत्रण दिया है जो तुझे डराने आये हैं ? अपने दसों हाथ उपजा ले माँ ! इनके बहुत दिन के इस स्फीत गर्व को आज चूर-चूर कर दे।”

आश्रम के बाहर रथ रोक दिया गया और अश्व को साँस ले लेने का अवसर मिला।

मेखला रथ से उतर जाने की चेष्टा में बोली—“मैं शंकाओं से निवृत्त होकर आती हूँ। इस टीले की ओट में ही एक निर्भर है।”

“अकेली ?”—चक्रकांत ने कुछ विचलित स्वर से कहा।

“निकट ही शक्ति का मंदिर है। चारों ओर दूर-दूर तक उसके स्वर्ण कलश से उद्भासित यह अरण्य देश सर्वथा माता के ममत्व से परिपूर्ण है।”—कहकर मेखला उतरकर चली गयी।

पुत्र के साथ रथ के अग्रभाग में बैठ जाने से वह धूलि में भर गयी थी। निर्भर पर पहुँचती हुई उसने मंदिर में कोलाहल सुना। हाथ-मुँह धोकर वह उधर बढ़ गयी।

शिष्यों ने मंदिर की ओर धाविता मेखला को पहचाना। परम आश्वासन मिला, घंटे छोड़कर उन्होंने एक साथ पुकारा—“गुरुदेव की जय !”

बाहर की इस जय-ध्वनि ने भीतर गुरुदेव के भी साहस बढ़ा दिया। वह तुरंत ही द्वार खोलकर बाहर आये। देखा, शिष्यों के बीच में चारों ओर से घेरी जाकर मेखला खिलखिलाकर हँस रही है। शिष्यों के नाना प्रकार के भय, संशय और विस्मय के प्रश्नों ने उसके हँसी का बाँध तोड़ दिया है। गुरुदेव ने शिष्यों को पूजा के अनंतर, मार्ग के दोनों ओर पंक्ति बाँध लेने के नियम पर लगा दिया।

मेखला मंदिर की सरणियों का अतिक्रमण कर उनकी ओर बढ़ी।

“इस भयानक भंभा में आरुढ़ होकर ही क्या तुम आयी हो ? तुम्हारी अलकें और परिधान अब भी तो धूलि-धूसरित हैं । क्या किसी नवीन चक्र का निर्माण हुआ है ? शक्तिमाता पर तुम्हारी जो अटल श्रद्धा है, उसी से चक्र में गति उत्पन्न हुई है ।”

“हाँ, वह रथ-चक्र है । उसी में हम बहुत-से लोग आये हैं । मेरी श्रद्धा से नहीं गुरुदेव, अश्व की शक्ति से परिचालित हुआ है वह । अभी कुछ क्षण पहले हम लाग ग्राम की सीमा पर थे और कुछ समय पहले नगर में । रथ-चक्र ने समय की सूक्ष्मता साधकर नगर, ग्राम और अरण्य का अंतर मिटा दिया !”

“यह बड़ी बुरी बात हो गयी ! अंतर ही पर तो हमारा जीवन है । सब एक ही हो गये, तो फिर कौन-सी सत्ता रही । आकाश, वायु, जल और पृथ्वी अंतरित रहकर ही तो जगत के नाना उपयोग सिद्ध होते हैं । समुद्र अपनी मर्यादा तोड़ दे, धरती-कूल कहाँ रहेंगे ? वायु धरती का छेदन कर दे और आकाश नीचे गिर पड़े, तो यह मैत्री किस काम की ?”—गुरुदेव ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा ।

मेखला ने गुरुदेव को विचार-धारा को तोड़ते हुए कहा—“आश्रम की सीमा छूकर फिर माता के चरणों का स्पर्श न कर विमुख हो लौट जाना मुझे रुचिकर ही न हो सका ।” उसने मंदिर के भीतर जाकर माता को प्रणाम किया ।

“तुम्हारे शील पर माता के आशीर्वाद हैं । चक्रकांत भी तुम्हें पाकर धन्य है । वह भी प्रतिभासंपन्न है । उसका चक्र भी मुझे अपनी सीमा के भीतर सख्त है, परंतु वह पिष्ठकूटक, उसी के कुटुंब ने इस राष्ट्र को भ्रष्ट कर दिया है । उसे माता के रोष की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।”

मेखला जाने लगी—“अनेक नागरिकों के साथ आयी हूँ । एक ही क्षण का अवकाश लेकर । शक्ति-पूजा की रात फिर जागरण करूँगी यहाँ । एक संवाद और भी है । इस वर्ष क चक्रोत्सव भी स्थगित कर दिया गया है ।”

“महाराज का दंड प्रत्यक्ष है, गुरुदेव का सूक्ष्मता रखता है ।”

“नहीं, पिष्ठकूटक ने बीच में पड़कर उसे स्थगित करा दिया ।”

चक्रकांत

“उस आचार-विचारहीन भ्रष्टता में माता की भक्ति क्यों होने लगी ?”

“मैं नहीं जानती ।”—मेखला चल पड़ी ।

“ठहरो मेखला ! इस वर्ष का अधिष्ठात्री-पद मैं महारानी से लेकर फिर तुम्हें दे दूंगा ।”

“नहीं, मुझे उसकी आकांक्षा ही नहीं है ।”—मेखला दौड़ती हुई चली गयी ।

थोड़ी ही दूर पर उसे चक्रकांत मिला—“निर्भर का बहाना बनाकर तुम फिर मंदिर की ओर बढ़ गयीं ?”

“हाँ, प्रतिमा के दर्शन को ।”

“जिस मूर्तिवृत्ति को तुरु प्रतिमा की भक्ति कहती हो, क्या उससे तुम्हारे पति के हृदय को शंकाएँ बढ़ नहीं जातीं ?”

दोनों निर्भर पर आये । रथ छोड़कर सभी वहाँ हाथ-मुँह धोने आ गये थे । रथ उन सबको लेकर चक्रकांत की अट्टालिका में लौट आया । पिष्ठकूटक उसी समय दोनों रथों को अपने निवास को ले चलने पर हठ करने लगा ।

“अश्व-रथ अभी ले जा सकते हो । दूसरे रथ के लिए वृषभों की शुद्ध-सम जोड़ी भी तो चाहिए ।”

“मारे पास है उद्यान में एक । अश्व के रथ से ही बाँध लेंगे इसे और लुढ़कता हुआ चला जायगा यह भी साथ-साथ ।”—पिष्ठकूटक ने कहा ।

ऐसा ही किया गया । मार्ग में इस अद्भुत यान पर सभी विस्मय-चकित थे । यानों ने उद्यान के भीतर प्रवेश किया । समस्त दास-दासियों ने घेर लिया उन्हें । केवल बहू अपने उद्वेग को उन बीजों का पोदली में बंद किये अपने कक्ष में सुनो की अनसुनी कर रह गयी ।

रथ और अश्व के लिए उसी समय स्थान का प्रबंध किया गया । वृषभों की जोड़ी भी रथ में जोड़कर देख ली गयी, उनका भी वहीं निवास बना दिया गया । दो सेवक उन दोनों रथों की देख-रेख के लिए नियत किये गये ।

पिष्ठकूटक ने कृषि-क्षेत्र से बहू-वादी को बुलवाया । वह कृषि के प्रवेश-
१७२

द्वारों पर ताले लगा आया। आज तक सदैव ही पति, पत्नी या पुत्र में से ही कोई उन्हें बंद करते रहे। रथों की प्रसन्नता में उस कुटुंब ने आज यह अपवाद पहली बार सहन कर लिया।

रथां को देखकर बहूवादी बोला—“इन्हें आप क्रय कर लाये ?”

“हाँ, विशेष मूल्य देकर। राजा और प्रजा के विग्रह को भी समाप्त कर आया।”

“वह तो और भी बढ़ जायगा, इनके आपको प्राप्त हो जाने से।”—बहूवादी बोला।

पिण्ठकूटक ने हँसते हुए कहा—“दूर भविष्य की धूसरता में किसकी दृष्टि पैठ सकता है। सुता बहूवादी, बाज पक चुके हैं अब। हम स्वयं उनका संग्रह कर लेंगे। कल स तुम्हारी नौकरी ग्रामों की ओर हुई। हम श्रेष्ठियों के बीच ग्रामों में बहू-मत फैला देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर आये हैं। वृषभों का रथ तुम्हारे अधिकार में रहेगा। इसमें भरकर तुम ग्रामों की ओर त्रयी को ले जाओ। वर्षों का काम सप्ताहों में संपादित हो जायगा।”

“स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य है।” सिर खुजाते हुए बहूवादी बोला—“आपकी कृपा से मेरे पास कुछ धन एकत्र हो गया है। आप कहें, तो मैं उद्यान के निकट कहीं एक छोटी-सी कुटी बना लूँ।”

“हमने तुमसे क्या कभी कोई किराया माँगा है ?”

“यह अथ नहीं है मेरा। उद्यान के भीतर कोई काम जब नहीं मेरा और फिर चार श्रेष्ठी भाइयों के बीच में सिर उठाकर भी तो मुझे आपकी वदान्यता की घोषणा करनी है।”—बहूवादी बोला।

“देखा जायगा फिर।”

परिस्थितियों ने चक्रांस्व को स्थगित तो कर दिया उस वर्ष, पर उससे न तो गुरुदेव का महिमा बढ़ी न महाराज की ही प्रभुता का संकलन हुआ।

शक्ति-उत्सव का पर्व निकट आया। मेखला की उस उत्सव में सम्मिलित होने की उत्कठा को देखकर तरला के भी इच्छा उत्पन्न हुई।

मेखला बोली—“साथ चला फिर मेरे, हानि क्या है ?”

चक्रकांत

“पर वह सम्मत नहीं हैं। कहते हैं, अरण्य के मंदिर में पिष्टकूट कुटुंब-सहित निषिद्ध है। जनता के बीच में यदि गुरुदेव ने मुझे अपमानित कर दिया, तो फिर किस मुख से घर लौटूंगी?”—तरला बोली।

“नहीं, ऐसे तो नहीं हैं गुरुदेव। मैं तो समझती हूँ वह विपरीत इसक तुमपर प्रसन्न हो हाँ जायेंगे और कदाचित् वह तुम्हारे व्यवसाय की तीनों वस्तुओं पर उदार दृष्टिकोण से विचार बदल डालें।”—मेखला ने कहा।

“हमें अपनी वस्तुओं की शुद्धि और अशुद्धि की अब कोई चिंता नहीं रही। समस्त वज्रांक उन्हें शुद्ध समझकर उनका उपयोग करता है। बहू-मत उनके साथ है, केवल एक गुरुदेव के मत की कौन गणना है?”

“चलो तुम्हारा प्रकृत परिचय न दूँगी गुरुदेव को। कह दूँगी मेरी दूर की संबंधिनी हैं।”

“नहीं, अब अगले वर्ष गुरुदेव के भावों में कोई अंतर पड़ा, तो देखा जायगा।”

“तुम चलो, न चलो, पर तुम्हारी उद्दीप्ति तो अवश्य ले जाऊँगी वहाँ। यह रात्रि-जागरण की सहायिका है। इसी के बल पर मैं अपने दीपक के साथ जागती रह सकूँगी सारी रात।”

धूम-धाम से उत्सव का दिन बीता। अधिष्ठात्री-पद के लिए महारानी, मेखला के चयन पर प्रसन्न थीं, पर मेखला ने उस आसन पर महारानी की ही शोभा जताकर उनके हृदय में विशेष स्थान बना लिया।

दिन भर का उत्सव सोत्साह संपन्न हुआ। रात्रि के आमोद-प्रमोद खिल पड़े। चक्रकांत भी मेखला के साथ वहाँ उपस्थित थे। मंदिर के प्रवेश-द्वार के निकट उनका शिविर पड़ा था।

रात्रि के दीप-जागरण में प्रयुक्त होने के लिए महारानी और मेखला दोनों प्रस्तुत हुईं।

मेखला ने गुरुदेव से कहा—“एक विनती है।” उसने उद्दीप्ति का चूर्ण गुरुदेव को दिखाया—“यह एक औषधि है। शुद्ध वनस्पतियों का चूर्ण, दीप-जागरण को बल देने के हेतु। उसकी अवधि में मैं इसका सेवन कर सकती हूँ?”

गुरुदेव ने उसे देखा, टटोला, सूँघा और जिह्वा पर रक्खा।

महारानी ने सस्मित कहा—“मैं भी गुरुदेव !”

गुरुदेव हँसकर बोले—“स्वीकार है। भक्ति की तन्मयता अपने साथ कुछ अपवादों को उज्ज्वल कर सकती है।”

मेखला बोली—“उत्तम ! पर उत्तम जल में मिलाकर इसका सेवन किया जायगा दुग्ध और मिश्री के साथ।”

गुरुदेव के श्रू-कुंचनों में आशंका लिख गयी—“इसी का नाम उद्दीप्ति है क्या ?”

दोनों नारियाँ विहँस पड़ीं।

“कौन बनायेगा इसे ?”—गुरुदेव ने पूछा।

“मेरे पति। इसी हेतु उनके शिविर में चूल्हा जलता है और इसके अन्य उपकरण भी उनके साथ लाये गये हैं।”—मेखला ने उत्तर दिया।

यह भी स्वीकृत हो गया। चक्रकांत भी सस्मित हो गये, पर बोले—“उपासना की रक्षा के लिए यदि आप मंदिर के द्वार रुद्ध करें भी, तो उद्दीप्ति के प्रवेश के लिए आपको भीतर श्रृंखल का उपयोग न करना होगा कि मैं ठीक समय पर चुपचाप द्वार खोलकर उसे दे जाऊँ।”

गुरुदेव को कोई आपत्ति नहीं हुई और चक्रकांत के मन में अपने-आप यह भावना उपजने लगी कि आज अवश्य कोई नवीन घटना घटेगी।

संध्या के आरंभ पर प्रतिमा के दोनों ओर महारानी और मेखला दीपक लेकर स्थित हो गयीं और गुरुदेव उनके बीच में मूर्ति के सामने ध्यान में नेत्र मूँद विराजमान हो गये।

अश्रृंखलित द्वार को चुपचाप उँगली से खिसकाकर चक्रकांत ने उसमें एक छिद्र उत्पन्न कर लिया। वह बाहर द्वार के निकट बैठकर भीतर का दृश्य देखने लगा।

कुछ घड़ियों के बीत जाने पर फिर उसने छिद्र से भीतर देखा। मेखला के मुख पर आलस्य का अवसाद पाया उसने। शिविर में जाकर वह शीघ्र एक पात्र भरकर उद्दीप्ति बना लाया। दो सुवर्ण के बासन पान-पात्रों के लिए लेकर उसने धीरे से मंदिर का द्वार खोला।

आहत पाते ही गुरुदेव मंदिर के प्रवेश पर आ गये। उद्दीप्ति की

सुवास से उनके ध्यान की मूर्च्छा भंग हो गयी—“मैं पिला दूँगा दोनों को; तुम द्वार बंद कर चले जाओ।”

गुरुदेव भीतर को चले, चक्रकांत ने धीरे से द्वार बंद किया; पर उन द्वारों के बीच के छिद्र को मिटने न दिया। वहीं पर स्थित होकर वह भीतर देखने लगा।

गुरुदेव ने मौनपूर्वक दोनों पात्रों में दो-दो बार भरकर दोनों को उद्दीप्ति पिलायी। फेर भी उस पात्र में बहुत शेष रह गयी। वह शेषांश गुरुदेव के मन में ग्वलवली मचाने लगा। उन्होंने अपने मन में कहा—“जब इसे मंदिर-प्रवेश की आज्ञा दे दी मैंने, तो फिर क्यों अशुद्ध है यह? देखने में तो बिलकुल शुद्ध है, पीकर भी तो देखना चाहिए।” पर गुरुदेव ने अपने मनोबल से उस आकर्षण को विच्छिन्न कर दूर ओट में रख दिया और जाकर फिर अपना ध्यान पकड़ लिया।

बाहर से यह सब लीला देख-देखकर चक्रकांत के विस्मय उपजने लगा।

भीतर गुरुदेव के ध्यान में वही सुवासित, राग-भरी उद्दीप्ति का पात्र चमकने लगा। उन्होंने विचारा “समस्त जनसख्या इसे पीने लगी है, सब-के-सब तो पागल नहीं हैं? कौन देखता है उधर? माता की प्रतिमा?...स्तर की नहीं घुमा सकती अपना मस्तक!”—गुरुदेव उठ खड़े हो गये। प्रतिमा जड़वत् हो गयी और उद्दीप्ति प्राण-भरी।

चक्रकांत द्वार खोलकर उन बर्तनों को ले जाना चाहता था कि हठात् गुरुदेव उठ गये। चक्रकांत यथावत् रह गया और एकाग्रता से देखने लगा भीतर।

गुरुदेव ने उन दोनों की ओट में जाकर उद्दीप्तिका पात्र उठा लिया। बाहर चक्रकांत ने कुछ और द्वार का छिद्र बढ़ाकर स्पष्ट ही देखा—गुरुदेव उद्दीप्ति का पात्र मुँह से लगाकर पीने लगे। चक्रकांत स्थिर न रह सका। वेत्पूर्वक दोनों द्वारों को भीतर की ओर खोलकर वह मंदिर में घुस गया।

अचानक द्वारों की गर्जना से उन दोनों प्रदीप-धारिणियों के हाथों से दीपक भूमि पर गिर पड़े साथ-ही-साथ।

“आज आपका पाखंड मूर्त्तमान होकर दिखायी दे गया। क्या है

गुरुदेव ? आपके अधरों का स्पश करते ही यह अपवित्र वस्तु शुद्ध हो गयी ।” —चक्रकांत गरजकर बोला ।

दोनों रमणियाँ भी साधना की बाधा को कष्ट लेकर उधर ही आ पहुँचीं । गुरुदेव ने उन तीनों के सामने शेष उद्दीप्ति का शेष घूँटें भी समाप्त कर दी । पात्र भूमि पर रखकर वह हँसने लगे । नाचने-कूदने लगे — “बहुत मीठी है । मैंने इसे अशुद्ध ठहराकर परिहास किया था ।” वह गाने लगे — “अत्यन्त स्वादिष्ट है !” जब वह उद्दीप्ति के पात्र उठा-उठाकर चक्रकांत को मारने लगे, तब सबको निश्चय हो गया, गुरुदेव पागल हो गये ।

चक्रकांत ने कौशल से दोनों रमणियों को बाहर कर लिया और द्वार ढककर उस पर शृंखल चढ़ा दिया । भीतर गुरुदेव ने ऊधम मचाना आरंभ किया । चक्रकांत ने सारी स्थिति एक चेले को समझा दी और वे महारानी-सहित उसी समय वहाँ से चल दिये । चेलों ने आपस में निर्णय किया — “चक्रकांत ने कुछ खिला-पिलाकर हमारे गुरुदेव को विकृति-मस्तिष्क कर दिया !”

राजधानी में पहुँचकर महारानी ज्वराकांत हो गयीं और फिर रोग-शय्या से नहीं उठीं । महाराज ने अनेक उपाय किये, पर महारानी का देहान्त हो गया । संतान-विहीन महाराज का अन्तःपुर और भी शून्य हो गया । बाहर प्रजा में बहूवादी ने समस्त ग्रामों में उस त्रयी के साथ-साथ बहू-मत फैला दिया ।

सेना अधिकाधिक पिष्टकूट, उद्दीप्ति और धूमिका की माँग करने लगी । राजा ने कर बढ़ा दिये । राज्य का बहू-मत बात-बात में राजा का विरोध करने लगा । गुरुदेव के पागलपन, प्रजा की वात्सल्यविहीनता और अन्तःपुर की शून्यता ने महाराज की वैराग्य-भावना प्रबल कर दी ।

एक दिन सेनापति ने आकर कहा — “महाराज, सेना वेतन-वृद्धि चाहती है । आप नहीं दे सकते । उनका बहू-मत आपके स्थान में मुझे चाहता है ।”

महाराज सेनापति के आश्वासित हो गये — “मैं भी कुछ ऐसा ही सोच रहा था । मुझे राज्य की कामना नहीं रही । मैं हिमालय को चला जाऊँगा ।”

महाराज का कोई विरोध न पाकर सेनापति तो देखते ही रह गया ! वह द्रवीभूत हो उठा । महाराज अपने निश्चय पर अटल रहे । शीघ्र ही उनके हिमालय-गमन का समाचार चारों ओर फैल गया । स्थान-स्थान पर प्रजा के विरुद्ध आचरण शांत हो गये ।

श्रेष्ठी वरद अनेक दास-दासी, वस्त्राभूषण तथा यात्रा की सुविधाएँ लेकर महाराज को समर्पित करने लगा । महाराज ने कहा—“मेरे मन का वैराग्य इनका कुछ भी मूल्य अंकित नहीं करता । जिसे छोड़ने को दृढ़-संकल्प हूँ, फिर उसी का यह कैसा सहवास ?”

चक्रकांत एक नवीन अश्व-रथ ले जाकर बोला—“महाराज, इस रथ से यात्रा सुगम रहेगी ।”

“कैसे ?” महाराज ने कहा—“उस पर्वत पर कोई पथ नहीं है और तुम्हारा रथ पथ चाहता है । अंत में जब पैदल ही जाना है, तब फिर आदि से ही वैसे ही क्यों न जाया जाय ?”


राजधानी से महाराज विदा हुए । सेना उन्हें नगर तक पहुँचा गयी । नगर से अनेक नागरिक साथ हो लिये । पिष्टकूटक ने अपनी अथी का बहुत बड़ा भंडार समर्पित किया । पर महाराज उसकी भी स्पर्धा कर गये । अलंकार-विहीन, गेरुए आवरण में जा रहे थे महाराज, मुकुटहीन और नंगे पैर । नागरिक उन्हें ग्राम तक पहुँचा आये । अनेक ग्रामवासी भी महाराज के साथ हो लिये और उन्हें अरण्य तक पहुँचा आये ।

गुरुदेव के आश्रम से होकर ही महाराज चले । उन्होंने पागल के आशीर्वाद ले लेना भी उचित समझा । कभी-कभी शिष्य गुरुदेव को प्रतिबंध-मुक्त कर देते थे । दूर से महाराज को देखकर गुरुदेव बोले—“क्यों रे ! तुझे भी नंगा कर दिया प्रजा ने ? मेरा तो मन भी नंगा कर दिया । पर तू डरकर कहाँ भागा जा रहा है ?”

“हिमालय को तपस्या के लिए ।”

“कायर है तू ! देख मैं कैसा जमकर बैठा हूँ । कौन कहता है उद्दीप्त अशुद्ध है ? उसकी भी कोई पोटली नहीं है तेरे पास ? कैसे काम चलेगा ? ... अरे मूर्ख ! वन में सिंह, जल में नक, पवन में गरुड़ सर्वोपरि होकर नहीं रहते क्या ? फिर तेरा आसन तो यहीं रह गया !”

चौदह

 केंद्र और परिधि ये दो स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं। एक की विच्युति से दूसरा अपने-आप टूट जायगा। केन्द्र पर के महाराज को वैराग्य हुआ या उपजा दिया स्थिति ने, यह भी एक प्रश्न है। यही बात गुरुदेव के संबंध में भी है। समस्त वज्रांक उद्दीप्ति के प्रवाह में बहने लगा, फिर अकेले गुरुदेव ही क्यों पागल हो गये ? केवल बाह्य स्थिति ही नहीं, हमारी मानसिकता भी कारण को उद्भासित करती है।

केंद्र और परिधि इन दोनों के विग्रहों से चारों विभाग छिन्न-भिन्न हो गये—गुण-विहीन हार-सा, मुक्ता बिखर गये। एक विभाग दूसरे विभाग से अलग हो गया। केंद्र और परिधि पर के श्रद्धा या भय के तिरोहित हो जाने से, सब अपनी स्वतंत्र सत्तात्मकता के लिए विकल हो उठे।

अरण्य में शिष्य स्वतंत्र हो गये। ग्रामवासियों में बहुवादी ने यह बहु-मत फैला दिया कि बिना परिश्रम कोई नहीं खाने पायेगा धरती पर। सब ग्रामों ने भी अब अरण्य को भिक्षा देना अस्वीकार कर दिया।

शिष्य-वर्ग में हलचल मच गयी। धरती खोदकर अन्न को उपजा लेना, उनके स्वभाव में था ही नहीं। पेट की ज्वाला भयानक होती है। वे परंपरा की रक्षा होने से ही रक्षित रह सकते थे। वे प्राणों के प्रण पर उसकी रक्षा करने को कटिबद्ध हो गये।

पागल गुरुदेव का सबसे मोटा चेला कहने लगा—“राष्ट्र में हम शब्द जगाते हैं, वही हमारी खेती है। शब्द के सामने अन्न का कोई मूल्य नहीं। फिर भी हम प्रसन्न मन से ग्रामवासियों के साथ यह सौदा करने आये। यदि ग्राम इस परम पवित्र परंपरा को नष्ट कर देंगे, तो स्वयं नष्ट हो जायँगे। यदि हम खेती करने लगे, तो अरण्य ग्रामों में परिवर्तित हो जायगा और शब्द की अखंड ज्योति निर्वापित हो जायगी ! लेंगे, कैसे नहीं लेंगे, हम बिना परिश्रम के ही ग्राम से

अन्न लेंगे। यदि वे भिक्षा के नाम से शांतिपूर्वक नहीं देंगे, तो हम अधिकारपूर्वक उनके खेतों में से बालें काट लायेंगे।”

“गुरुदेव की महानता आज प्रकट हुई। जब तक उनका मस्तिष्क ठीक था, इस परंपरा को जीर्ण कह सकने का किसी को साहस नहीं हुआ। नगरों के पुरुष-वर्ग ने सबसे प्रथम भिक्षा के विरुद्ध स्वर उठाया था, तो क्या हुआ ? उनकी महिलाओं ने उस भिक्षा को यहीं पहुँचाकर हमारा और भी श्रम कम कर दिया। आज गुरुदेव की विवृति से वे महिलाएँ भी परांमुख हो गयीं।”

मोटे शिष्य के प्रधानत्व की ध्वनि दबा देने को एक अपर शिष्य बोला—“अपराध किसी का नहीं, यह हमारा ही दुर्भाग्य है। महाराज वैराग्य साधकर हिमालय को चल दिये तो क्या ? राजकोष तो यहीं छोड़ गये। हमारी राज-वृत्ति क्यों बन्द हो गयी ? केवल गुरुदेव की अस्वस्थता से। हमने तो कोई परंपरा नहीं तोड़ी है अब तक। आकाश में हम नियमपूर्वक शब्द जगाते हैं। प्रतिमा का पूजन करते हैं। पर देवी के सामने जब भोग ही नहीं लगेगा, तब हमारा ही पेट कैसे भरेगा ? जब पेट ही नहीं भरेगा, तब कैसे मुख में शब्द बोलेगा ? नाद का मूलाधार पेट ही में तो है। इसलिए हमारा मुख्य कर्तव्य है गुरुदेव का उपचार कर उनके मस्तिष्क का निर्माण !”

मोटा शिष्य बोल उठा—“तुम क्या जानते हो, इस परंपरा पर कुठार चलाया है उस बहूवादी ने। इस विष के बीज को नगर से लाकर उसी ने ग्रामों में बो दिया। गुरुदेव के अस्तित्व से यदि वह दब जायगा, तो कौन कठिनाई है ? हम में से कोई एक शिष्य गुरु के पद के लिए चुना जा सकता है। गुरुदेव की स्वस्थावस्था से ही मैं उनका दक्षिण हस्त होकर रहा हूँ। आज भी मंदिर की पूजा का अधिनायक मैं ही हूँ। मेरी कोई यह पद-लोलुपता न समझी जाय। अरण्य के मंगल की कामना है मेरी ! आप सब शिष्य चाहें तो मुझे उस पद के ग्रहण करने में कोई आपत्ति न होगी।”

पहला शिष्य कहने लगा—“तुम्हारे भीतर से बहू-वादी बोलने लगा यह। तुमने अभी उसके कलुप को प्रकट किया है।”

सब शिष्यों ने अनुमोदन किया।

मोटा शिष्य अप्रतिभ होकर कहने लगा—“कैसे होगी गुरु की स्थापना फिर ? भगवान् न करें, यदि उनका देहांत हो गया होता, तो क्या होता ?”

“उनके मृत्यु-समय की इच्छा में नवीन गुरु का जन्म होता ।”

“उन्होंने बार-बार मेरी सराहना की है ।”—मोटा शिष्य बोला ।

एक शिष्य ने कहा—“गुरुदेव पागल हो गये हैं, इसमें कोई संदेह तो नहीं है । पर अब भी कभी-कभी क्षण दो क्षण के लिए वह ठीक बातें करते ही हैं । क्यों न उस क्षण की प्रतीक्षा कर हम उनके स्वस्थ मत का अभिज्ञान प्राप्त करें !”

“हाँ, यह ठीक है, चलो गुरुदेव के पास !” इस पर निश्चित हो सब शिष्य उस अरण्य में भी फैल चले, बहूमत को मिटाने के लिए एक गुरु की शरण में गये ।

मंदिर के बाहर चबूतरे पर बैठे हुए थे गुरुदेव उस समय पत्थर पर एक कोयले से कुछ लिखते और मिटाते जा रहे थे । मोटा शिष्य और शिष्यों को पीछे छोड़कर अकेले ही उनके पास गया । अधिक भीड़ से वह विशेष रूप से चलायमान हो जाते थे ।

बड़े विनय के साथ मोटा शिष्य गुरुदेव के सामने जाकर खड़ा हो गया । गुरुदेव ने उसकी ओर देखकर कहा—“क्या है रे मोटे !”

मोटे ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया—“आप स्वस्थ हैं गुरुदेव !”

“इसमें भी कोई संदेह है क्या ? यदि संदेह है, तो वह तुम्हारे ही मन में है । मेरे चारों ओर कहीं नहीं । मैं एक सूत्र लिख-लिखकर स्मरण कर रहा था । इसके आगे कह तो दे ।”—गुरुदेव पत्थर के लेख को इंगित कर बोले ।

शिष्य ने लेख को देखा । उसकी आड़ी-तिरछी रेखाओं में किसी शब्द को न पाया उसने—“शब्द क्या लिखा है आपने ?”

“शब्द अक्षर से बना है । अक्षर देखकर पहचान ले शब्द ।”

“अक्षर भी तो कोई नहीं है ।”

“जब अक्षर देखकर तू शब्द बना सकता है, तो क्यों नहीं रेखाओं को पहचानकर अक्षर समझ लेता ? क्या अक्षर रेखाओं का ही जाल नहीं है ? शीघ्रता कर जल्दी से सूत्र कह डाल । मेरा उत्तरीय

फट गया, मैं धूप में बैठे-बैठे उसी को सी लेना चाहता हूँ ।”
—गुरुदेव बोले ।

“आप स्वयं ही तो वस्त्र फाड़ डालते हैं । यदि उन्हें फाड़ें नहीं तो क्यों इस उद्यम की आवश्यकता पड़े ? अभी कल ही तो आपका यह उत्तरीय बदला गया था । हम प्रति दिन कहाँ से लायेंगे नवीन ? अब ग्रामवासियों ने भी हमारी भिक्षा पर पीठ कर दी है ।”

“करने दो । भिक्षा हठपूर्वक माँगी भी तो नहीं जाती । प्रतिमा के आभूषण बेच कर लाओ ।”

शिष्य ने गुरुदेव के पैर पकड़ लिये—“यह आप क्या कहने लगे महाराज ! आप, स्वस्थ हैं । आपकी मानसिक पीड़ा दुरित हो गयी है । माता की दया से सारा अरिष्ट चला जायगा ।”

“चक्रकांत ने उद्दीप्ति पिलाकर ही यह सब किया । उसी को पीकर ठीक हो जाऊँगा । है तुम्हारे पास, लाओ तो सही ! मैं उसे शुद्ध घोषित कर चुका हूँ । प्रकट में पीते नहीं क्या तुम उसे ? भिक्षा में नहीं मिलती क्या ? मिलने लगेगी । मैं भी एक चक्र बना रहा हूँ ।”—गुरुदेव कहने जा रहे थे ।

शिष्य बोला—“गुरुदेव आप किसी को अपना पट्ट शिष्य घोषित कर देते, तो बड़ा उत्तम होता ।”

“पट्ट शिष्य ? तू ही तो सबसे मोटा है । हो क्यों नहीं जाता अपने आप ।”

“आप आज्ञा दें, तभी तो ।”

“पट्ट शिष्य ? युवराज ? महारानी प्रत्येक वर्ष प्रतिमा के सामने सारी रात दीपक लेकर रह गयी । देवी क्या देती है ? माँगनेवाले के पास इच्छा भी तो हो । नहीं मिला वज्रांक को युवराज । उसी शोक में महारानी मर गयी और उसी शोक में मरने के लिए महाराज को उतनी दूर जाना पड़ा ! पट्टशिष्यत्व के लिए सारी रात दीपक हाथों में ले सकता है तू ?”

“हाँ, ले सकता हूँ ।”

“तब जा मंदिर के भीतर, माता अपने हाथ से तेरे तिलक कर देंगी और तुम सब मिलकर अपने जीवित गुरु की चिता जला लेना ।”

बार-बार आशा बाँधकर मोटा शिष्य फिर-फिर गुरु के चापल्य पर

घूम रहा था। शिष्यों को बुला लाने तक तो वह बिलकुल ही भूल जायँगे। उसने फिर गुरुदेव से पूछा—“गुरुदेव, सारी रात दीपक हाथ में लेकर जाग सकता हूँ मैं। आप और शिष्यों से भी तो अपना यह निर्णय कह दीजिए।”

“और शिष्यों से कह दूँ, तो फिर मैं पागल ही किस बात का हुआ ? उद्दीप्ति तो पिलाओ मित्र !”—गुरुदेव ने साग्रह कहा।

उन्हें फिर अपनी बात पर लौटते देखकर फिर शिष्य के आशा जागी। वह शिष्य-मंडली में जा पहुँचा दौड़कर। बहुतों ने पूछा—“कितनी गहराई में हैं गुरुदेव ?”

“एक बात तो सिद्ध करा लाया तुम सबके लिए।”

उत्सुकता से सबने पूछा—“क्या ? क्या ?”

“उद्दीप्ति को गुरुदेव ने विशुद्ध घोषित कर दिया। अब उसे छिपकर पीने की आवश्यकता नहीं।”

“पिष्टकूट और धूमिका ?”—कुछ एक ने पूछा।

“उनके लिए तो कुछ नहीं कहा। जब कुटुंब में एक शुद्ध हो गया, तब फिर शेष दो का पूछना ही क्या ? हाँ, और पट्ट-शिष्यत्व के लिए भी, मुझे मनोनीत कर दिया।”

पहली बात को तो सब मान गये, पर दूसरी बात के लिए अनेकों ने कहा—“चलो हम भी तो सुन लें।”

“सब नहीं, केवल एक-दो।”—मोटा शिष्य बोला।

“सब कैसे नहीं ? जब उद्दीप्ति शुद्ध हो गयी तब फिर बहू-मत भी चल पड़ा !”—सब उठे।

“उद्दीप्ति का चूर्ण है किसी के पास ? लाओ, गुरुदेव पीने के लिए माँगते हैं। वह कहते हैं, चक्रकांत ने उन्हें उद्दीप्ति पिलाकर पागल बना दिया।”—मोटा शिष्य बोला।

“यह भ्रांति है ! विशुद्ध भ्रांति है !”—सबने कहा।

एक शिष्य उद्दीप्ति के लिए सब साधन ले आया। सबके सब गुरुदेव के निकट चले। बिना किसी प्रचारक की सहायता के बहू-मत अरण्य की सीमा में अपने-आप फैल चला !

एक पत्थर से मंदिर का ताला तोड़ रहे थे उस समय गुरुदेव।

मंदिर के ताले की चाभी मोटे शिष्य के अधिकार में थी। उस समय उसके मस्तिष्क में विचार की बिजली कौंध गयी—“गुरुदेव जिस ताले को अस्वाभाविकता से खोल रहे हैं, उसकी प्रकृत चाभी मेरे पास है। मंदिर पर अधिकार मेरा है। मेरे परचान् का गुरु बहू-मत की सृष्टि हो सकता है। इस समय मैं ही गुरुदेव हूँ। उसके प्रतिपादन के लिए पागल गुरुदेव की वाणी मेरी दुर्बलता है, वह मेरे लिए प्राप्य है। शब्द मेरे पास है, अरण्य में मैं ही शब्द का जनक हो गया—मैं ही गुरुदेव हूँ।”

मोटे शिष्य ने तेजस्विता से मस्तक ऊँचा किया। वह चमक भी उठा। उसने गरजकर कहा—“क्या कर रहे हो यह?”

पागल ने किम्बककर पत्थर फेंक दिया और मोटे शिष्य के चरणों में मस्तक रखकर कहा—“गुरुदेव की जय हो!”

मोटा शिष्य बोल उठा—“और क्या चाहते हो? हूँ न मैं ही गुरुदेव?”

कुछ बोले—“यह पागलपन है गुरुदेव का।”

“चुप रहो। मेरे नवीन प्रकाश को देखो।”—नवीन गुरुदेव ने स धिक्कर और गूँजती हुई वाणी से कहा—“मैं ही गुरुदेव हूँ, राज्य के चारों भागों में फैलनेवाला यह मेरा ही शब्द है। इसी में अर्थ का अनुसंधान करेंगे अब संब। बहू-मत बनाया जाता है, होता नहीं। यदि तुम मेरे पक्ष में बहूमतन बनाओगे, तो मैं सुवा और अरण्य के दंडों से ठोक-पीटकर तुम्हें ठीक कर लूँगा।”

सबने घबराकर नये गुरुदेव के सदंड उत्तोलित हाथों पर मौन धारण कर लिया।

नये गुरुदेव बोले—“सुनो, बहू-मत जहाँ बहुएँ होती हैं, वहाँ होता है। अरण्य केवल ब्रह्मचारियों का निवास है। वहाँ एक गुरुदेव का शब्द चलता है। सुनो, पुराने गुरुदेव केवल उद्दीप्ति को शुद्ध कर सके, मैं तुम्हारे लिए पिष्टकूट और धूमिका को भी शुद्ध कर दूँगा। मेरी जिह्वा का संचालन ही शास्त्र है।”

सबने माथा विनत किया, हाथ जोड़े और प्रतिध्वनि जगायी—
“नवीन गुरुदेव की जय!”

पुराने गुरुदेव ने भी सब की देखा-देखी वैसा ही किया। ऐसा

जान पड़ा, उन्होंने अपने पागलपन में गुरुदेवत्व का विसर्जन कर दिया !

मोटे गुरुदेव ने पागल से कहा—“यदि आप पत्थर मारना छोड़ दें, तो हम आपको बंद करना छोड़ देंगे ।”

“समय-समय पर, उद्दीप्ति मिलती जाय, तो क्या आवश्यकता है पत्थर मारने की ।”—पागल ने कहा ।

“मिलेगी, सबको मिलेगी । मैं पिष्टकूट और धूमिका का भी प्रबंध कर दूँगा सबके लिए । तृष्णा जाग उठी है, तो फिर उसे अतृप्त न रहने दिया जायगा । उद्दीप्ति अभी प्रस्तुत है । शिष्यगण ! उसे बनाओ । अभी माता की विशेष पूजा में वह व्यवहृत होगी और फिर चरणामृत रूप के सभी उसका पान करेंगे ।”—नये गुरुदेव ने आज्ञा दी ।

त्रयी विशुद्ध हो चल पड़ी अरण्य में । चक्र भी चलने लगे । शिष्य-गण ग्राम के खेतों से अन्न की बालें काट-काटकर लाने लगे और अन्न को कूटने-पीसने का काम उन्हें अपनी दिनचर्या में सम्मिलित करना ही पड़ा ।

ग्रामों में धीरे-धीरे प्रबल हो उठा बहूवादी । उसने रथों की सहायता से कुछ ही दिनों में समस्त ग्रामों में त्रयी फैला दी । घर-घर बहूमत का प्रचार हो गया । धीरे-धीरे बहूवादी ने पिष्टकूटक का संबंध ढीला करना आरंभ कर दिया और ग्राम में ही भूमि मोल ले घर बनाकर रहने लगा । अपने ग्रामवासी होकर उसने समस्त ग्रामों का विश्वास जीत लिया । उसने उन दोनों बीजों की गुप्त रीति से कृषि भी आरंभ कर दी और अपनी खेती के तैयार होने पर धूमिका और उद्दीप्ति के मूल्य में कमी कर दी ।

यह समाचार नगर में पिष्टकूटक के पास जा पहुँचा । उसने कारण पूछा बहूवादी से ।

विवाद बढ़ गया । बहूवादी नौकरी छोड़कर स्वतंत्र हो गया । वह नागरिकों के विरुद्ध ग्रामों में विष उगलने लगा—“ग्राम ने श्रम जगाकर अन्न उपजाया है । वसुंधरा अन्न के दाने पर ही ठहरी हुई है । वस्त्रों का हमारा है । हमारे श्रम पर ही नागरिकों की अट्टालिकाएँ स्थिर हैं । हम उनकी अट्टालिकाएँ नीची कर अपनी मोपड़ियों को ऊँचा करेंगे ।”

बहू-वादी से इतनी बड़ी महत्वाकांक्षा पाकर ग्रामवासी उसका

चक्रकांत

आदर करने लगे और जब उन्होंने देखा, वह ग्रामीणों का सच्चा हितैषी है, तब वे सब उसकी आज्ञा का पालन करने लगे।

उसने कहा—“अरण्य को भिक्षा, नगर को अन्न और राजधानी को कर देना बंद कर दो। जब राजा ही नहीं, तो कर कैसा ?”

ग्रामवासी त्रयी के लिए नगर को अन्न भेजने के लिए बाध्य थे। बहू-वादी ने उन्हें आश्वासन दिया—“पिष्ठकूट को छोड़कर शेष दोनों वस्तुएँ हमें यहीं मिल जायँगी। पिष्ठकूट के बदले रांटी से काम चल जायगा।”

उसकी आज्ञा बहू-मत में चल तो पड़ी, फिर भी कुछ पिष्ठकूट के विकट वशवर्ती नगर को अन्न देकर पिष्ठकूट खाते ही रहे।

बहूवादी ने समस्त ग्रामों को श्रेष्ठियों के शत्रु का रूप दे दिया और समस्त ग्रामों का बहू-मत अपने पक्ष में कर सबका नेता बन गया।

नगरों में चक्रकांत की सहायता से श्रेष्ठों वरद की जय घोषित होने लगी। वरद कहने लगा—“वज्रांक में अब हमारा राज्य होगा। जिसकी संस्कृति उसका राज्य। हमने अपनी प्रतिभा से राष्ट्र का कला-कौशल बढ़ाया है, उसके रहन-सहन की, सुख-सुविधा की उन्नति की है, भाँति-भाँति के चक्रों से उसका श्रम घटाकर उसे विश्राम दिया है।”

इसके उत्तर में बहूवादी ग्रामों में कहता—“चक्रों ने हमें आलसी बना दिया, हमारा शारीरिक तेज नष्ट कर हमें रोगों का घर बना दिया।”

नागरिकों ने राज-कर देना बंद कर दिया और स्वयं मुद्रा ढालने लगे। राज्य की पुरानी मुद्राओं को गला-गलाकर उन्होंने उन्हें नये आकार दे दिये।

और राजधानी में सेनापति सेना और अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह कर कहता—“महाराज मैं हूँ, हिमालय-गमन करते समय महाराज मुझे उत्तराधिकारी बना गये हैं। सबसे बड़ी शक्ति खड्ग की है, मैं उसके आगे सबको विनत कर लूँगा।”

नगरों में राजा के सैनिक लूट-पाट करते। नागरिकों ने समस्त सामग्री का संग्रह कर मूल्य की भयानक अभिवृद्धि कर दी। पिष्ठकूटक

ने ग्रामों से उपकरणों की सरल उपलब्धि न होने के कारण अपनी त्रयी के दामों को आकाश पर चढ़ा दिया।

चारों विभागों में भयानक संघर्ष मच गया। भ्रष्टाचार, हिंसा, छल-कपट, भूठ-चोरी से सारा राष्ट्र कलुषित हो गया। इस प्रकार जब राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े होने लगे, तब कुछ समझदारों ने सबकी एक सभा की

सभा में निश्चित हुआ—“महाराज के साथ राज-संज्ञा भी हिमालय को चली गयी। वह शब्द भगड़े का शब्द है। इसलिए चारों विभागों में जो राजा बनने की प्रतियोगिता हो गयी है, इस शब्द के त्याग से वह विग्रह समाप्त किया जाता है। वज्रांक के राजाओं की अन्तिम पीढ़ी स्वयं भगवान् ने ही समाप्त कर दी। अब मंत्रियों का युग आ गया। चारों विभाग एक-एक मंत्री के अधीन रहेंगे।”

मंत्री कैसे छाँटे जायँगे? इस प्रश्न पर बहूवादी बोला—“जिसके पक्ष में बहू-मत होगा।”

यह बात मान ली गयी।

मोटे गुरुदेव बोले—“बहूमत ने मुझे ही गुरुदेव छाँटा है। इसीलिए तो मैं यहाँ आया हूँ।”

“गुरुदेव, यह शब्द नहीं चलेगा अब।”—एक न कहा।

“भिक्षा तो मिलेगी न अरण्य को पूर्ववत्?”—गुरुदेव ने पूछा।

“ग्राम और नगरों में विद्यालय खोलकर शिक्षा-प्रचार करोगे, तो क्यों न मिलेगी?”—श्रेष्ठीवरद ने कहा।

आश्वासित होकर गुरुदेव ने कहा—“फिर गुरुदेव के बदले नाम क्या होगा?”

“कोई मंत्री होगा।”—वरद ने कहा।

“अरण्य ने शब्द ही उपजाया है, शब्द-मंत्री ठीक है?”—गुरुदेव ने पूछा।

सबने उनकी बात मान ली।

बहूवादी बोला—“ग्रामों का बहूमत मेरे पक्ष में है। ग्रामों का मंत्री मैं हूँ।”

पिछकूटक ने कहा—“यह चोर है। यह मेरी उद्दिष्टि और धूमिका चुरा ले गया।”

बहूवादी बोला—चुप रहो, यह शांति-सम्मेलन है। तुम यहाँ भगड़ा बढ़ाने आये हो, तो मैं सारी पोल खोल दूँगा तुम्हारी।”

पिष्ठकूटक को चुप करा दिया लोगों ने।

बहूवादी बोला—“क्या चुराया है मैंने?”

पिष्ठकूटक ‘बीज’ कहे तो सारा भेद और भी खुल जाय। उसने मौन साध लिया।

बहूवादी बोला—“चोर के पक्ष में भी कहीं बहू-मत होता है। मैं दिन-भर श्रम करता हूँ ग्रामीणों के साथ और श्रम-मंत्री का नाम अपने लिए चुनता हूँ।”

यह भी स्वीकृत हुआ और उससे कहा गया—“ग्रामों को नगर के हाथों सुलभ मूल्य में अपना उत्पादन बेचना होगा और सुरक्षा के लिए सेनापति को कुछ कर के रूप में भी देना होगा।”

श्रम-मंत्री को यह बात मान्य हुई।

श्रेष्ठीवरद की बारी आयी—“हम श्रेष्ठी हैं, कला-कौशल और व्यवसाय के अधिनायक। वहाँ लक्ष्मी का भी निवास है, अतएव हम व्यापार करेंगे और मुद्रा भी हमी ढालेंगे।”

“किंतु ‘कर’ के रूप में कुछ तुम्हें भी सेनापति को देना होगा।”

श्रेष्ठीवरद ने सन्न लिया—“मेरा नाम अर्थ-मंत्री होगा।”

पिष्ठकूटक बोला—“और चक्रकांत को, जिनके बनाये हुए नाना प्रकार के चक्रों से वज्रांक की महिमा बढ़ी है, कोई पद ही नहीं?”

चक्रकांत ने उदासीन भाव से कहा—“मुझे न पद की लालसा ही है और न उसके लिए अवकाश ही। तुम अपने लिए क्यों नहीं कहते?”

पिष्ठकूटक हँसकर बोला—“मेरे लिए? राजा-विहीन इस सारे राष्ट्र का मालिक तो मैं ही हूँ। कौन ऐसा मनुष्य है यहाँ जिसके मन में मेरी त्रयी का अधिकार नहीं है। मैं आज त्रयी बंद कर दूँ, तो सबके सब मेरे उद्यान पर माथा टेकने को आ जायँ।”

बहूवादी अपने मन में बोला—“अरे अभिमानी! तेरे दो रहस्य खुल गये हैं, मैं तीसरे को भी उघाड़कर रख दूँगा।”

सेनापति बड़ी उदासीनता से कहने लगा—“परंतु सबसे बड़ी

शक्ति शस्त्र की है। वसुंधरा वीर की है। जिसके हाथ में खड्ग है, उसी के दरङ्ग भी—वही राजा भी है। पर जब राजा शब्द को आप अभिधान और प्रयोग से निकाल देने पर तुले हैं और मंत्री शब्द को ही चलाना चाहते हैं, तब मैं भी इसी बहू-मत में सम्मिलित हूँ और अपने नाम के लिए शक्ति-मंत्री के नाम को पसंद करता हूँ।”

एक महाराज के चार मंत्री बनाकर बहू-मत प्रयुक्त होकर फैल चला राष्ट्र मैं। शब्द, श्रम, अर्थ और शस्त्र के चार मंत्री बन गये। पहले प्रत्येक विभाग की स्वतंत्र सत्ता थी। अब चारों चारों में समा गये, एकता न रही, संकरता समाविष्ट हो गयी।

पहले आश्रम में केवल शब्द ही बोलता था, भौतिकता के लिए कोई स्थान न था वहाँ। केवल भावुकता, शुद्ध भावुकता—समस्त पार्थिवता केवल विचार में ही कीलित थी। भावुक अरण्य कलाकार हो उठा। उसने नागरिक की कला ले ली। प्रतिमा गढ़ ली, उसे रिझाने के लिए स्तुति के छंद और नृत्य के गीत रच डाले। प्रतिमा की भेंट के लिए राजधानी के प्रथम उद्भव मुद्रा का प्रचलन हो गया। ग्राम का श्रम भी अपहृत कर लिया उन्होंने। कृषक के खेत में से बालें काट लाने का स्वभाव खुल चुका था उनके। मंत्रि-पद के विभाजन से कोई बाधा नहीं पड़ी उसमें। उनका लालच बढ़ने लगा। भावुकता की गति इंद्रियातीत होने के बदले पदार्थवाद की ओर को चली। उन्होंने कृषि भी आरंभ कर दी।

आश्रम के देवता, गुरु और शिष्य सबके जीवन में पिष्ठकूट, उद्दीप्ति और धूमिका एकरस होकर घर कर गयी। अरण्य का शब्द केवल एक ध्वनिमात्र बनकर रह गया। गुरु-सहित शिष्यों ने उसका अर्थ निकालकर द्रव्य में मिला दिया।

नगर से अंक भी ग्रहण कर लिये उन्होंने। उनमें संग्रह की वृत्ति भी जाग गयी और उसे दूरदर्शन का सुंदर नाम दे दिया गया। यह गणित उनके पिष्ठकूट की त्रयी से ही आरंभ हुआ था। बाहर भी नहीं, अरण्य में भी उनके परस्पर व्यवसाय आरंभ हो गया।

सत्य, अहिंसा और त्याग किसी इतिहास से परे पौराणिक काल की कथा हो गये। काम, क्रोध, मोह, मत्सर और लोभ रक्त-

दिन के उनके सहचारी और सहकारी के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

कष्ट-सहिष्णुता जो उनके जीवन का मेरुदंड था, वह तिरोहित हो गया। वे शीत, घाम और वर्षा से रक्षित रहने के लिए अधिक सघन और दृढ़ निवासों का निर्माण करने लगे। वस्त्र-बिड़ौने के भार और अंक भी बढ़ चले।

खाने और पहनने के कम-से-कम उपकरणों से ही वे पहचाने जाते थे। अब बहू-मत के फैल जाने से अधिक-से-अधिक उनकी प्रतिष्ठा का आदर्श बना। कर्म का भी एक परिमाण था, उसकी भी वृद्धि होकर जटिलता उत्पन्न हो गयी।

नारी अरण्य से वहिष्कृत थी पहले! केवल एक माता की मूर्ति ही समस्त अरण्य में छिपाकर रक्खी गयी थी। शब्द-मंत्री ने बहूमत के लिए उसे सबके सामने रख दिया। उसने पिष्ठकूट, उद्दीप्ति और धूमिका को ही शुद्ध घोषित नहीं किया, द्रव्य को भी पवित्रता में सम्मिलित कर लिया। शिष्यों के यज्ञ-सूत्रों में चाभियाँ बँध चलां, वे नगर तथा ग्राम के ताले भी तोड़ने लगे और अरण्य के भी।

शिष्य आंदोलित हो उठे—“नारी समाज की पूर्णता है। उसकी शून्यता जीवन की पंगुता है। अरण्य अर्द्धांगी होकर नहीं रह सकता अब अधिक दिन। फिर यह युग ही बहू-मत का है। जब बहू ही नहीं, सब फिर बहू-मत कैसा ?”

सबसे पहले शब्द-मंत्री अपने लिए एक सहधर्मिणी ले आये और फिर एक-एक कर शिष्यों के सदनों में भी दीप और चूल्हे प्रज्वलित हो उठे अपने आप।

पहले शब्द जागता रहा बहुत दिन तक अरण्य में! उस शब्द के विश्वास से उनके निर्भयता थी। ग्राम के श्रम और नगर के अर्थ को लेकर उन्होंने राजधानी के शस्त्र पर दृष्टि डाली। उनके भय जाग पड़े।

वे कहने लगे—“हम राष्ट्र की परिधि पर हैं। विदेशी विजेता और हिंस्र पशुओं के आक्रमण से हमारा सामना है, अतः शस्त्र भी हमारे मुख्य संग्रह की वस्तु हैं।”

शब्द-मंत्री ने शस्त्र का निषेध भी तोड़ दिया। शिष्यगणों ने शस्त्र

संग्रहीत कर लिये। भय से बचने के हेतु कदाचित् उनका उपयोग इतना नहीं हुआ, जितना भयभीत करा देने को।

अरण्य ग्राम के रूप में परिणत होने लगा, उसके शब्द का विश्वास नष्ट हो गया; श्रम और कर्म की लोलुपता समा गयी। इंद्रियों में स्वाद बस गया। विचार-धारा की दिशा घटल गयी और बदल गया दृष्टिकोण !

अरण्य की उस नवीनता में बहुत दिन तक गुरुदेव अपने पागल-स्वरों को मिलाते रहे, फिर न मिला सके। एक थाली में छेदकर वह उसे एक लकड़ी की नोक से हाथों पर घुमाते और कुछ गुनगुनाते रहते। यही उनके जीवन का मुख्य कार्यक्रम हो गया था। भोजन और वस्त्र की भी फिर कोई चिन्ता न रही। दो-चार शिष्य उनके पूर्व गौरव का स्मरण कर तथा प्राचीन अभ्यासवश उनकी सेवा कर देते थे।

एक दिन वह उस थाली को घुमाते हुए “ऊँमणि चक्रे हूँ—ऊँमणि चक्रे हूँ” उच्चस्वर से घोषित करते हुए अरण्य के बाहर न जाने कहाँ को चल दिये, फिर लौटकर न आये। जिस शिष्य ने उन्हें निष्क्रमण करते देखा था, वह कहता था कि जाते समय उनके आंग पर कोई वस्त्र नहीं था।

ग्रामों में नगर की अनुरूपता आ गयी थी। अरण्य में ग्राम हो गये थे, तो ग्रामों में नागरिकता का निवास हो गया था। बहू-वादी ने उद्दीप्ति और धूमिका सुलभ कर उनका विलास बढ़ा दिया था, तो चक्रकांत के भाँति-भाँति के चक्रों ने उस विलास के लिए उनको अवकाश उपलब्ध कर दिया था। उनका श्रम कलुषित हो गया और संतोष विनष्ट !

नगर की अट्टालिकाओं को नीचा करना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य हो गया। श्रेष्ठियों की समता प्राप्त करना उनका मुख्य ध्येय। आलस्य, कलह, राग, द्वेष उनके गुण हो गये।

बहू-वादी उद्दीप्ति और धूमिका का बीज तो लाया ही था, ग्रामों में और भी अनेक कला-कौशलों से उसने ग्रामों को परिपूर्ण कर दिया। ग्रामों में प्रकाश बढ़ चला, छाया भी। नगरों की श्री-समृद्धि पर एक ओर ग्राम की स्पर्धा बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर राजधानी की खड्ग-शक्ति के अत्याचार। सुरक्षित

चक्रकांत

कहीं कोई न था। नगर में सिक्कों के ढाले जाने से सेनापति अपने व्यय के लिए कर बढ़ाने लगा। उसके प्रतिरोध पर उसने अपनी सेना को मनमानी करने की भी आज्ञा दे दी।

चारों ओर अशांति और कलह फैल गये। फिर लोग त्राहि-त्राहि करने लगे।

बहूवादी ने अपनी अट्टालिका भी शीघ्र ही गगनचुम्बी कर ली ग्राम में। उस श्रम-मंत्री के रहस्य से बनाये जानेवाले व्यवसाय पर ग्रामवासियों ने उँगली उठायी। प्रचुर धन-संग्रह कर ही चुका था वह। वह अपयश कहीं उनके श्रम-संत्रिप्त को न खा जाय। इस भय से उसने एक दिन त्रयी का सारा भेद ग्रामवासियों को देते हुए कहा—“आप लोग समझते हैं कि इस व्यवसाय के भेद से ही मैंने अपनी अट्टालिका बनवा ली है और आप लोग अभी इस गौरव से वांचत ही हैं। सचमुच में मेरे समान समता के आदर्शवादी का यह कलंक है। अतः मैंने आज इस रहस्यमयी खेती की दीवालें तुड़वा दी हैं। उद्दीप्ति और धूमिका का एक-एक मुट्ठी बीज ग्रामों के प्रत्येक घर में बाँट दिये जाने की आज्ञा अपने कर्मचारियों को दे दी है। उनके संस्कार का रहस्य समझा देने के लिए भी एक विश्वविद्यालय खोल दिया गया है माँत्रग्राम में। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब भरती हो सकते हैं।”

उद्दीप्ति और धूमिका के रहस्य समस्त ग्राम की संपत्ति हो गये। सब स्वयं उनकी खेती कर उनका निर्माण करने लगे, पर फिर भी किसी की अट्टालिका बहूवादी के समान ऊँची न हो सकी। सब के निर्माता हो जाने पर फिर ग्राहक कहाँ से आता? ग्राम की उद्दीप्ति और धूमिका नगर में नहीं बिक सकी। रूप और स्वाद में वह पिष्ठकूटक की त्रयी का सामना न कर सकी और पिष्ठकूटक की त्रयी भी फिर ग्रामवासियों ने मोल नहीं ली। हाँ, पिष्ठकूटों का स्थान रोटी न ले सकी पूर्णतः।

संवर्ष पर संवर्ष बढ़ गये। प्रश्न पर प्रश्न उठने लगे। विवाद पर विवाद जमा होते गये। उनका निराकरण कौन करे?

फिर मंत्रिया ने सभा की और यह निर्णय हुआ कि एक को प्रधान मंत्री चुना जाय अंतिम निर्णय के लिए।

बहु-मत चिल्लाया—“यह तो फिर वही ‘एक’ आ गया।”

“बहु-मत से बनाया गया, तो फिर एक कहाँ रहा ?”

समस्या हुई—प्रधान मंत्री हो कौन ? चार मंत्रियों के अतिरिक्त कोई पाँचवाँ ? मंत्रियों को सख्त न हुई यह बात। मंत्रियों में से फिर कौन हो प्रधान मंत्री ?

शब्द-मंत्री बोला—“मैं, मैं अक्षर से बना हूँ।”

अर्थ-मंत्री ने कहा—“मैं, मैं श्री हूँ।”

शस्त्र-मंत्री बोला—“मैं, मैं शक्ति हूँ।”

श्रम-मंत्री, वह बहुवादी, सब के अन्त में कहा उसने—“श्रम की ही प्रतिष्ठा है इस युग में। सबसे बड़ा बहु-वादी कृपक ही है। वह स्वयं पिष्टकूट, उद्दीप्ति और धूमिका बनाकर सेवन करता है। उन कृपकों के बहुवाद का प्रतिनिधि हूँ मैं। मैं उन्हीं का पक्ष लूँगा। कृषक ही धान उपजाते हैं, अतः मैं ही प्रधान मंत्री होने के योग्य हूँ।”

“तुम पढ़े-लिखे नहीं हो।”—शेष तीनों ने विरोध किया।

पन्द्रह

बहुवादी कहने लगा—“पढ़ा-लिखा कैसे नहीं हूँ ? पढ़ना-लिखना और होता कैसा है ? नगर के किस श्रेष्ठी से कम ऊँची मेरी अट्टालिका है ? भीतर किससे कम संपत्ति मेरे पास है ? और बाहर सम्मान ? सारे राष्ट्र में मैंने बहुवाद फैलाया है—अरण्य की सीमा तक। मेरे ही बल से सब को मंत्री-बल प्राप्त हुआ है। मैंने ग्रामवासियों की ओपड़ियों को प्रकाशित करना आरंभ किया है। मैंने उनका रहन-सहन ऊँचा किया है। मैं कैसे नहीं बनूँगा प्रधान मंत्री ? मेरे मन में समस्त ग्रामों को नगर के समान बना देने की सहृदयता है। मैं ग्रामों का हिताकांक्षी हूँ। जब तक एक-एक कृपक को श्रेष्ठी न बना दूँगा, सुख की नींद नहीं सो सकता। समस्त ग्रामों का बहुमत मेरे साथ है।”

समस्त ग्रामों ने उसके स्वर में स्वर मिलाकर कहा—“बहु-वादी की जय !”

शस्त्र-मंत्री और अर्थ-मंत्री दोनों ने एक होकर कहा—“नहीं, श्रम-मंत्री नहीं होने पायेगा प्रधान मंत्री ।”

अरण्य में शब्द-मंत्री ने अलग अपना शंख बजाया—“नहीं, शब्द-मंत्री ही होगा प्रधान मंत्री । राष्ट्र की समस्त चेतना शब्द से ही आरंभ होती है । शब्द से ही विचार का निर्माण होता है । विचार से श्रम उत्पन्न होता है, श्रम से ही द्रव्य और द्रव्य से ही सेना का वेतन दिया जाता है तथा शस्त्रों का क्रय और संग्रह होता है । सैन्य-संचालन के लिए भी फिर शब्द ही का उपयोग होता है । आदि में शब्द ही है और अंत में भी केवल वही रहता है । यदि मेरी उपेक्षा की गयी तो सारा राष्ट्र समाप्त हो जायगा । शब्द ही मंत्र है और मंत्र ही मंत्रित्व । मैं मंत्रित्व का जनक हूँ । इससे सबसे ज्येष्ठ हूँ और श्रेष्ठ भी । मैं ही प्रधान मंत्री हूँ ।”

पर अरण्य में जन-संख्या ही कितनी थी ? बहुओं के समावेशित हो जाने से भी शक्तिशाली न हो सका बहु-मत वहाँ । शब्द-मंत्री ने कितना ही अपना शंख बजाया, सब ने उसे ढकोसला समझा और पागल गुरु का प्रलापी चेला कह दिया उसे । उसने अरण्य में भी अट्टालिकाएँ निर्मित करने का आशय सन दिया अपने चेलों को । पर वे उसे प्रधान मंत्री न बना सके ।

ग्रामों में जन-संख्या कम थी, पर ग्राम बहुसंख्यक थे और वे नगरों के बहु-मत को पराजित कर देंगे । केवल पिष्ठकूटों के लिए उन्हें नगर की निर्भरता थी । बहुवादी ने यह विचार फैलाया—“चेतना और उत्तेजना केवल उद्दीप्ति और धूमिका में हैं, वह हमें सहज ही प्राप्त है । पिष्ठकूट की कोई महत्ता नहीं है । उससे केवल पेट भरता है और कुछ समय को जिह्वा में स्वाद लगता है । हमारे ग्राममंडल की रोटी में कोई अभाव नहीं है । वह बड़ी सरलता से अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर सकती है । इसलिए हमारे ग्राम और हमारा अन्न । हम न नगरों को अन्न भेजेंगे, न वहाँ से पिष्ठकूट क्रय करेंगे ।”

श्रम-मंत्री ने विधान प्रचलित किया—“आज से कोई भी ग्राम-

वासी पिष्टकूट नहीं खाने पायेगा। वह बाहर से आता है। अब फिर हम न अरण्य को भिन्ना देंगे, न नगर को अन्न और न राजधानी को कर।”

ग्राम के बहू-मत ने इस विधान को शिरोधार्य किया। श्रम-मंत्री ने घोषणा की—“जब तक ग्राम का ही प्रधान मंत्री नहीं होता और ग्राम में ही मुद्रा नहीं ढाली जाती, तब तक हमारा यह संबंध-विच्छेद ध्रुव तारे की भाँति अटल रहेगा।”

नागरिक चिंतित हो गये। उन्होंने अपना बल बढ़ाने के लिए राजधानी के साथ गुप्त संधि की। उसमें यह निश्चित हुआ कि शस्त्र-मंत्री अपने प्रभाव को काम में लाकर अर्थ-मंत्री को प्रधान मंत्री बना देगा। उसके बदले में अर्थ-मंत्री शस्त्र-मंत्री को अच्छी-बड़ी धन-संख्या वार्षिक कर के रूप में सेना के व्यय के हेतु सदैव के लिए देता रहेगा।

जब ग्राम ने राजधानी को कर देना बंद कर दिया, तब नगर ने प्रचुर धन देकर सेनापति की सहायता करनी आरंभ की। नगर और राजधानी में पिष्टकूटों का अभाव हो गया, ग्राम से अन्न न मिलने के कारण उनमें बड़ी विकलता फैल गयी। पिष्टकूट ने अन्न की खेती भी आरंभ कर दी, कुछ मुख्य-मुख्य श्रेष्ठियों का भोग पूर्ण करने के लिए।

चक्रकांत ने अपना एक नवीन चक्र चलाने के लिए श्रम-मंत्री को निमंत्रित कर कहा—“नगर के साथ ग्राम का सहयोग होना दोनों के लिए कल्याणकारी है। मैं भी ग्रामों का हिताकांक्षी हूँ। मेरे चक्रों से आप लोगों ने अपनी स्थिति में भारी सुधार किया है। नगर से बैर कर आप लोग कदापि सस्पत्तिवान नहीं हो सकते। प्रधान मंत्री का पद केवल आप और आपके संबंधियों तक ही प्रकाश फैलायेगा, समस्त ग्राम-मंडलों में उजाला नहीं कर सकता। सस्पत्ति का उद्रेक चक्र में है।”

श्रम-मंत्री ने बीच ही में कहा—“पर तुम नगर में यह जो मुद्राओं के चक्र ढालने लग गये हो, इसका अधिकार ग्राम को दे दो, तो अच्छा छोड़ दिया हमने प्रधान मंत्री का पद भी आप ही के लिए।”

चक्रकांत सिटपिटाकर बोला—“मुद्रा ढालने को स्वर्ण और रौप्य भी तो चाहिए।”

“हम काँसे के ही ढालकर चला लेंगे।”

कौसा क्या, मैं तुम्हें स्वर्ण के उत्पादन का चक्र बनाकर देता हूँ। चक्रकांत झूठी आशा नहीं देता किसी को। सुनो, मैं एक ऐसा चक्र बना रहा हूँ, जिसे हल पर लगा देने से बिना वृषभों के हल स्वयं चालित हो जायगा। बिना परिश्रम के ही अरण्य तक चुटकियों में आप भूमि को खोद डालेंगे। जिस परिश्रम को आज तक खोदने में लगाते थे, उसे अतिरिक्त बाज के बोने में लगा देना। नगरों को अन्न न देने के कारण ग्रामों में अनंत अन्नराशि जमा हो गयी है। जब दस-बीस गुना अन्न तुम्हारे अधिक उपज गया, तब क्या उतनी ही सम्पत्ति नहीं बढ़ी तुम्हारे पास ? अन्न स्वर्ण से भी अधिक उपयोगिता नहीं रखता क्या ?”

“वेचेंगे कहाँ हम उस अन्न को ? नगर एक सीमित परिमाण में ही तो हमारे अन्न का क्रेता है।”—श्रम-मंत्री ने कहा।

“भाँति-भाँति क मेरे रथ-चक्र तो फैल गये हैं ग्रामों में। उनमें भर भरकर दूसरे राष्ट्रों में ले जाकर बेच देना।”—चक्रकांत ने कहा।

श्रम-मंत्री की समझ में नहीं आयी वह बात—“क्यों करेंगे हम अरण्य तक खेती। ग्राम के भीतर से तो अरण्य के शिष्य हमारा अन्न चुरा ले जाते हैं। हम वहीं जाकर उनके लिए खेती कर दें ? नहीं चाहिए हमें आपका हल-चक्र।”

श्रम-मंत्री चक्रकांत के प्रस्ताव को ठुकराकर अपने ग्राम को लौट गया। परंतु चक्रकांत इससे निराश नहीं हुआ। वह हल-चक्र के आविष्कार में लगा ही रहा। उसने वज्रांक की अस्थिति, अव्यवस्था और अशांति पर अपनी उद्योगशाला के द्वार बंद कर लिये तथा एकांत में धीर मनोयोग से हल-चक्र के व्यवधान पर संयत हो गया।

शक्ति-उत्सव बंद हो गया। राज्य के अरक्षित मार्गों पर अपने शील-सम्पत्ति को लुटा देने से महिलाओं ने भी उस परंपरा को तोड़ दिया। ग्राम से भिक्षा न मिलने पर शिष्यवर्ग में लूट-खसोट और भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया था। उद्दीप्ति और घूमिका की खेती भी वहाँ आरंभ हो गयी थी।

अरण्य की दुरवस्था बढ़ती ही गयी। भ्रष्टाचार से कोई भी अंकुरित नहीं हो सकता। केवल शब्द की शक्ति रखनेवाले द्रव्य के चक्र में फँस गये थे। विलासिता ने उनके चरित्र-बल को नष्ट कर दिया था। चरित्र-बल पर ही हमारी शारीरिक और मानसिक उन्नति का उद्भव है।

शब्द-मंत्री कठिनता में पड़ गया। अनाहारा और अर्द्धवसना बहुओं ने उसके निवास को घेरकर उस पर धरना दे दिया—“हम भूखी हैं, हम नंगी हैं। बहू-मत ने ही आपको शब्द-मंत्री बनाया है, हमारी रक्षा करो।”

शब्द-मंत्री बोला—“बहू-मत से नहीं, मैं स्वयं अपने बल से मंत्री बना हूँ। मुझे गुरुदेव इस मंदिर की चाभी दे गये थे।”

“ऊँहूँ, नहीं, यह झूठ बात है। बहू-मत बिना आप कदापि मंत्री नहीं हो सकते। ऐसा कहीं नहीं होता।”—बहुओं ने समवेत स्वर में कहा।

शब्द-मंत्री ने मन में कहा—“चलो, यह भी ठाक ही है। बहू-मत जब मेरा आर है, तब फिर क्यों उसकी उपेक्षा करूँ?” उसने समस्त बहुओं को आश्वासन दिया—“शंति रखो, सब मंदिर के बाहर अपने-अपने आसू पोंछकर घंटे बजाओ। मैं मंदिर के भीतर पूजा कर माता की नौद ताड़ता हूँ।”

शब्द-मंत्री मंदिर के भीतर द्वार बंद कर देवी की पूजा करने लगा गुरुदेव की बतायी पद्धति के अनुसार। बाहर से घंटे बजने लगे अत्रि-राम गति से।

शब्द-मंत्री ने हाथ जोड़कर अंत में कहा—“हे माता, तू क्यों हम से असंतुष्ट हो गयी? क्या हमने पिष्टकूट और उर्ध्वपति तेरे भोग में सम्मिलित कर धूमिका की धूप नहीं जलायी यहाँ? फिर क्यों शक्तिमयी तू निद्राविभूत है? श्री गुरुदेव पागल हुए अपनी करनी से। वह समय के साथ चापें मिलाकर चल न सके। हम तो ठीक-ठीक ग्राम और नगरों की चाल में चाल मिलाकर चल रहे हैं। हमारी बहुएँ भूखी और नगी रह जायँ, हम जानते हैं हे माता। यह तुम्हें सख्त नहीं है। यदि हमने तेरे अधर शिला के निर्माण में न रख दिये होते, तो तू अवश्य कुछ न कुछ कहती। काँई और संकेत से समझा माँ, इस कठिन समय में कैसे हमारी रक्षा हो?”

प्रतिभा के मस्तक का एक पुष्प उसके वक्ष पर के हार से छूटकर भूमि पर गिर पड़ा। शब्द-मंत्री हर्ष से चिल्ला उठा—“तेरी महिमा को धन्य है। तू कहती है, इस रत्नहार को नगर में बेचकर मेरे वर्ष भर का व्यय चल जायगा। माता की जय हो ! माता की जय हो !”

शब्द-मंत्री ने माता के गले से वह मेखला द्वारा समर्पित रत्न-हार निकाल लिया। उसे हाथ में सँभाले वह द्वार खोलकर मंदिर के बाहर आया—“घंटा बंद कर दो बहुओं। माता के आशीर्वाद को लेकर मैं आ गया हूँ। मंदिर के बाहर पथ के दोनों पार्श्वों में तुम सब पंक्ति बाँधकर खड़ी हो जाओ। तुम्हारा दैन्य-दुःख सब चला गया।”

बहुओं ने शब्द-मंत्री के हाथों में चमकते हुए उस रत्नहार को देखकर तुरंत ही उसकी आज्ञा का पालन करते हुए पुकारा—“शब्द-मंत्री की जय !”

शब्द-मंत्री मंदिर की चौकी पर से बोला—“माता ने यह हार दिया है। इसे बेचकर तुम्हारी सहायता करने को कहा है। एक-एक कर मैं तुम सब को इसे दिखाऊँगा कि तुम्हें धैर्य हो। मैं आज ही इसे नगर में बेच आऊँगा और आज ही नगर और ग्राम दोनों स्थानों से आवश्यक सामग्री रथ-चक्रों में लदवाकर यहाँ रख दूँगा। ग्राम ने हमें भिक्षा देने से अस्वीकार किया है। व्यवसाय करने से ‘नहीं’ कर नहीं सकता वह। अन्न का अपार संग्रह उसका सड़ रहा है, उसमें घुन लग रहा है !”

शब्द-मंत्री बहुओं को वह हार दिखाता हुआ उनकी पंक्ति से होकर चला गया उसी समय एक शिष्य को साथ ले नगर को।

बहुओं ने आध्यात्मिक होकर जय-घोष किया—“शब्द-मंत्री की जय !”

बहुओं के इस कोमल पिण्डनिर्दिष्ट स्वर-लहरी से तमाम सोते हुए बहू-पति जाग पड़े और अपनी-अपनी कुटियों के बाहर आकर बात समझने लगे।

अपनी प्रयोगशाला में बंद जब चक्रकांत हल-चक्र के अनुसंधान में लगा हुआ था, तब बाहर से शब्द-मंत्री ने उसका द्वार खटखटाया।

चक्रकांत का ध्यान तोड़ दिया उसने। खिन्न होकर चक्रकांत ने

भीतर से कहा—“कौन तुम महान बाधा के रूप में आ गये ? तुमने मेरे संलग्न विचार की धारा तोड़ दी ! मुझे अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया था । कौन हो तुम ? अब भी लौट सकते हो, तो लौट जाओ । मैं समस्त राष्ट्र के भरण-पोषण के लिए एक अत्यंत उपयोगी अनुसंधान में लगा हुआ हूँ ।”

“मैं नहीं लौट सकता । जब राष्ट्र का भरण-पोषण ही तुम्हारा लक्ष्य है, तब मैं उसी के सबसे दुर्बल अंग का प्रतिनिधित्व लेकर आया हूँ । अरण्य बड़ी आपत्ति में फँस गया है । अन्न-वस्त्र के अभाव से वहाँ नारियों और शिशुओं की बड़ी दुर्दशा है ।”

“नारी क्यों जाकर बस गयी फिर वहाँ ? जब वह वहाँ बसा ली गयी हैं, तब फिर कुछ दिन और ठहरे । मैं हल-चक्र बना रहा हूँ । कोई अभाव न रहेगा ।”

“वह जब बनेगा, तब बनेगा । अभी उनकी रक्षा होनी आवश्यक है । मैं भिक्षा माँगने नहीं आया हूँ । द्वार खोल दो । मैं शब्द-मंत्री हूँ । आपकी उदारता के विश्वास पर ही आपके द्वार पर आया हूँ ।”

“शब्द-मंत्री !” चक्रकांत को विवश होकर द्वार खोल देने पड़े । “कैसे कष्ट किया ?”—कहकर चक्रकांत ने शब्द-मंत्री को प्रतिष्ठा के आसन पर बिठाना चाहा ।

शब्द-मंत्री बोला—“अरण्य के लिए महान दुर्दिन आकर उपस्थित हुआ है । ग्राम अन्न उपजाता है और नगर द्रव्य की खेती करता है । राजधानी खड्ग का भय दिखाकर दोनों से अपने भोग-विलास की सामग्री ले लेती है । कठिनाई में पड़ा है अरण्य ।”

“फिर क्यों तुमने उसकी जन-संख्या बढ़ा दी ?”

“राष्ट्र में बढ़ते हुए बहू-मत के लिए ।”

“जो वस्तु तुम्हारे लिए उपयोगी हो सकती थी, तुमने आकर उसी को छिन्न-भिन्न कर दिया ।”

शब्द-मंत्री ने कहा—“आप प्रजा-बंधु हैं । आपका मन वज्रांक के भेदों में बँटा हुआ नहीं है, इसलिए असहायों की रक्षा कीजिए । नगर के श्रेष्ठियों को छोड़कर मैं इसीलिए आपके ही निकट आया हूँ ।

इसलिए इस रत्नहार को मोल लेकर हमारी रक्षा कीजिए ।” शब्द-मंत्री ने हार निकालकर चक्रकांत को दे दिया ।

उसने हार को तुरंत ही पहचान कर कहा—“हैं, यह कैसा हार है ?”

“यह हमारी माता का सबसे अधिक मूल्यवान हार है ! हम इससे उसकी ग्रीवा शून्य कर नगर में बेचने को ले आये, इसी से आप हमारे दुभाग्य के अंक पढ़ सकते हैं ।”

“माता कैसी ? यह तो मेरी पत्नी मेखला का रत्नहार है । परंतु उसने कभी इसके खो जाने की बात प्रगट नहीं की !”—सावेश चक्रकांत बोल उठा ।

शब्द-मंत्री नहीं जानता था कि माता के गले में वह हार कहाँ से आया था । उसने तीव्र प्रतिकार में कहा—“तो क्या मैं झूठ बोलता हूँ ?”

“तुमको ऐसे ही छोड़ देना बड़ा भारी अन्याय होगा ।”—चक्रकांत ने शब्द-मंत्री को उद्योगशाला के बाहर से ताला लगाकर बंदी कर लिया ।

शब्द-मंत्री इस अनर्थ वज्ररात पर गुँगा हो गया । मूर्तिबत् जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया । चक्रकांत के विरोध में एक उँगली भी न हिला सका वह ।

चक्रकांत अपनी अट्टालिका में मेखला के पास जा पहुँचा और बोला—“मेखले ! अरण्य का कलुष ही समस्त राष्ट्र की विषमता है । आज वह मेरे पाश में अपने पाप के साथ फँस गया । यह रत्नहार तुम्हारा ही तो है न ?” उसने मेखला की आँखों के सामने वह हार दिखाया ।

मेखला ने हँसकर कहा—“नहीं ।” उसने हार का स्पर्श भी नहीं किया ।

“नहीं ? झूठी बात ! तुम्हारी इतनी दुर्बल स्मरण-शक्ति नहीं है ।”

“होगा किसी दिन, पर अब नहीं है । मैंने इसे अरण्य की देवी को भेंट दे दिया था, कई वर्ष हो गये ।”

“उस गुरुदेव ने तुम पर मंत्र चला दिये ! लो, इसे रक्खो । मैंने इसे मोल ले लिया ।”—मेखला को हार देकर चक्रकांत तुरंत ही शब्द-मंत्री के पास गया । द्वार खोलकर उसने उससे क्षमा माँगी और सारी स्थिति समझाई ।

चक्रकांत ने उस रत्नहार को बहुत अच्छे मूल्य पर क्रय कर लिया और उसी समय सारा मूल्य चुका दिया और अपना एक तीव्रगामी रथ देकर उसमें समस्त सुवर्ण सहित शब्द-मंत्री और उसके शिष्य को सवार कराकर विदा कर दिया ।

अरण्य की बहुओं ने शब्द-मंत्री के पराक्रम पर हर्षध्वनि की और सहायता पाकर वे कुछ समय के लिए, अन्न-वस्त्र के युग के ही लिए नहीं, पिष्टकूट, उद्दीप्ति और धूमिका की त्रयो के लिए भी अपने-अपने पति की सम्मानभाजन हो गयीं ।

वज्रांक का वैषम्य उलझता ही चला जा रहा था ।

उन्हीं दिनों वहाँ एक मनुष्य पथ खोजते हुए राजधानी में प्रविष्ट हुआ और उसने सेनापति की अट्टालिका का पता पूछा ।

“सेनापति, कोई सेनापति नहीं है यहाँ ?” प्रत्युत्तर में एक प्रहरी ने कहा—“तुम्हारा यहाँ नवीन आगमन है क्या ?”

“राजधानी के महाराज को तो मैं जानता हूँ । उनके स्थानापन्न कौन हैं ?”

“शस्त्र-मंत्री कहो । इतनी बड़ी अट्टालिका और किसकी हो सकती है ? यही है ।”

“उन्हें जाकर सूचना दो, मैं हिमालय से उनसे मिलने के लिए आया हूँ—समबुद्धि मेरा नाम है ।”

तुरंत ही समबुद्धि शक्ति-मंत्री के सामने जाकर उपस्थित हुआ —“मैं ही समबुद्धि हूँ । मुझे आपके पास महाराज ने भेजा है । उन्होंने सनातन हिम में जीवित समाधि ले ली । मैं आपके देश में शांति की स्थापना के उद्देश्य से आया हूँ ।”

“आपका स्वागत है ! मैं महाराज के ही सिंहासन का नाम चला रहा हूँ । आपको ज्ञात है, इस देश से राजत्व निर्वासित कर दिया गया है, वह मंत्रित्व में बदल गया—यह नहीं जानते आप । और मंत्रित्व फिर उसी राजत्व के प्रधानत्व का अन्वेषक हो गया । परंतु आप कहते हैं कि महाराज ने हिम-समाधि ले ली ।”

“हाँ, मैं चक्षुसाक्षी हूँ ।”

“नगर के श्रेष्ठियों ने राजधानी से ऊँची अट्टालिकाएँ बनवा लीं ।

चक्रकांत

आप महाराज के दूत हैं, आपको सब न होगी यह बात। हमारे देश में शांति तभी हो सकती है, जब शस्त्र-मंत्री की अट्टालिका से ऊँची और किसी की अट्टालिका न हो।”

“इन अट्टालिकाओं के ऊँचे-नीचे होने से कुछ नहीं होता।”

“तो ग्रामवासियों की बात पूरी कर दो। सबकी अट्टालिकाएँ बराबर कर दो।”

“इन धन की अट्टालिकाओं की समता-विषमता में क्या रक्खा है। इनसे अधिक भयानक तो कुछ और ही है। कह दूँ ? तुरा तो न मानोगे ?”

“नहीं।”

“वे हैं तुम मंत्रियों की प्रखर बुद्धि के सौध। मैं उन्हीं को बराबर करने आया हूँ। यदि बुद्धि समान हो गयी तो द्रव्य स्वयं संतुलित हो जायगा। देश में शांति चाहते हो, तो हे शक्ति-मंत्री, उस मामूले के लिए सबसे पहले तुम ही अपना मस्तक विनत करो।”

मंत्राभिवद-से शब्द-मंत्री ने उस समबुद्धि के आगे अपना मस्तक विनत कर दिया।

समबुद्धि बोला—“मैं एक प्रसिद्ध मनोरसायनी हूँ, मेरे पास एक टीका है, उसे लगाकर मैं मनुष्य की बुद्धि का सम बटवारा करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे ही यह टीका लगायी जायगी।” उसने अपनी पोटली में से आवश्यक उपकरण निकालकर शस्त्र-मंत्री के टीका लगा दी।

मंत्री अपने में ही खो-सा गया।

समबुद्धि बोला—“अब तुम्हारी समस्त राजधानी के निवासियों के टीका लगा दूँगा। उसके अनन्तर तुम्हारे सैनिक समस्त नगर, ग्राम और अरण्य के घर-घर प्रत्येक मनुष्य का टीका लगायेंगे। कोई छूटने न पाये ! यदि कोई छूट गया, तो वही गड़बड़ कर देगा।”

ऐसा ही किया गया। शीघ्र ही सारे वज्रांक की समस्त जन-संख्या के टीका लगाकर बुद्धि का बराबर बटवारा कर दिया गया। सब ने बुद्धि में बराबर हो जाने से सुख पाया, संतोष पाया और पायी शांति। वास्तव में बड़े-छोटे तो रहे ही वहाँ, पर समबुद्धि हो जाने से

२०२

न कोई छोटा दिखायी दिया और न किसी ने अपने को बड़ा समझा।

प्रधानता के लिए जो स्पर्धा थी, वह जाती रही। राजा का नाम चला गया था, मंत्रित्व भी न ठहर सका। देश-वृत्ति की भावना से लहक उठा। स्वार्थ के तिरोहित हो जाने से राष्ट्र-समृद्ध हो गया। सब समबुद्धि की टीका के लिए उसके उपकृत हो गये। उन्होंने समबुद्धि को वहीं रोक लेने के लिए बड़ी चेष्टा की, पर वह न रुक सका। कदाचित् जहाँ से आया था, वहीं चला गया।

वज्रांक के चारों विभाग, चारों विभागों का काम करने लगे। सब एक दूसरे में सम्मिलित होकर एकमय हो गये। बहू-वाद फिर जाकर 'एक' के ही समुद्र में मिल गया।

सम-बुद्धि हो जाने से फिर चक्रकांत हल-चक्र का निर्माण न कर सका और पिष्ठकूटक की कूटता भी बिदा हो गयी। उसने अपने पिष्ठकूट का शेष रहस्य भी खोलकर उसे जन-संपत्ति बना दिया।

सारी प्रजा अपने हाथ से पिष्ठकूट, उद्दीप्ति और धूमिका बना लेने लगी। परंतु अनेक वर्षों में स्वभाव में समाविष्ट हो जाने के कारण उस त्रयी में वह उद्दीपन न रहा, कदाचित् कुछ बुद्धि की समता का ही प्रभाव हो।

हम नहीं जानते, टीका लगी हुई उन दो-तीन सीढ़ियों के अनंतर क्या हुआ? जो नवीन संतान उत्पन्न होती थी, वह संस्कार में बुद्धि की समता स्वभाव से पाती थी, या उन लोगों ने समबुद्धि की टीका का रहस्य जान लिया था?